साधनमाला—६ मणि

आनन्दलहरी

[सरल टीका और विशद व्याख्या-सहित]

लेखक—दरभंगा राजवंशसम्भूत श्रीश्यामानन्द

प्रकाशक—

श्रीरमादत्त शुक्ल

कल्याण-मन्दिर, कटरा, प्रयाग

अनवाम्ति
२३जून'४६, मंगलवार

साधनमाला—६ मणि

आनन्दलहरी

—: ० :—

लेखक

श्रीश्यामानन्दनाथ

प्रकाशक

कल्याण-मन्दिर, कटरा, प्रयाग

प्रथम संस्करण]   माघ पूर्णिमा २००४   [मूल्य १)

आनन्दलहरी

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥ १ ॥

टीका—शक्ति से युक्त होकर ही शिव प्रपञ्च की सृष्टि कर सकता है अन्यथा वह हिल भी नहीं सकता। ऐसी दशा में विष्णु, महादेव और ब्रह्मादि तक से पूजित तुझको भला मुझ जैसा पुण्यहीन कैसे स्तुति और नमस्कार से प्रसन्न करे?

व्याख्या—शिव से अपर-शिव से ही तात्पर्य्य है। कारण पर-शिव वा सदाशिव महाप्रेत है, जो महाप्रलयावस्था के निष्क्रिय निर्गुण ब्रह्म का द्योतक है। प्रेत का शब्दार्थ है 'प्रकर्षेण गतः' अर्थात् सर्वतोभाव से चला गया। चले जाने का अर्थ निष्क्रिय हो जाना है। यही शिव विकाशात्मक अवस्था में शक्तियुक्त होकर अपना विकाश करता है। अर्थात् इच्छाशक्ति से "एको अहं बहुस्याम्" भावना से प्रपञ्च की सृष्टि करता है। इसका बोध ऊपर श्लोक में आये 'प्रभवितु" से होता है। 'प्रभ-वितु" का अर्थ है प्रकृष्ट (सम्यक्) प्रकार से होना। सम्यक् प्रकार से होने से मतलब है अपने को विश्वरूप में लाना। शक्ति से यहाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन त्रिशक्तियों से मतलब है। शक्तियाँ तो असंख्य हैं, मुख्य ये ही हैं। शाक्त-दर्शन के मत से ये धर्म्मशक्तियाँ हैं और

शिव धर्म्मीशक्ति है। शाक्त-दर्शन में शिव का स्थान गौण है। उसके अनुसार आदि में केवल अव्यक्ता निराकारा शक्ति मात्र थी—"देवी हि एक अग्र आसीत्"—बह्वृचोपनिषत्। यह बहुत युक्त सिद्धान्त है। इसको हम प्रत्यक्ष सांसारिक सृष्टि की क्रिया में भी देखते हैं। स्त्री अकेली रहती है। जब सन्तान-सृष्टि की आवश्यकता होती है, पुरुष के साथ सामरस्य होता है। सन्तान की उत्पन्न करनेवाली स्त्री है और पुरुष उसका सहकारी मात्र है। इसी प्रकार जगत् का मूल कारण शक्ति (मातृ-ब्रह्म) है और सहकारी शिव गौण कारण है। निराकार परब्रह्म का रूप शक्ति का है और साकार के रूप में शक्ति-शिव द्वारा व्यक्त होता है। इस दर्शन में ब्रह्म का बोध धर्मीशक्ति मात्र से होता है। इस सिद्धान्त का समर्थन श्रुतियाँ करती हैं। तात्पर्य यह कि शिव शक्ति से भिन्न नहीं है। स्तोत्र के 'स्पन्दितुम्' से 'हंस' मन्त्र से तात्पर्य्य है कारण पिण्ड में स्पन्दन, जिसको नाद कहते हैं, 'हंस' से ही होता है जैसे कि ब्रह्माण्ड में परमहंस द्वारा स्पन्द होता है। 'हं' वीज शिव का और 'सः' वीज शक्ति का है। हं—सः = हंसः = सः—हं = सोहं = साहं = शक्ति—शिव। अब अगर सो—हं से सकार और हकार हटा लिये जायँ तो केवल 'ओं' वा प्रणव रह जाता है। इस तरह 'हंसः' किञ्चित् स्थूल रूप में प्रणव है। इन्हीं दोनों 'ह' और 'स' के रूपान्तर में 'ह्सौः' बनता है, जो महाप्रेत सदाशिव का बीज है। परमहंस ही परमब्रह्म और हंस ही जीव है। इसी परमहंस से ब्रह्माण्ड की सृष्टि और इसी में ब्रह्मांड का लय होता है। 'हं' प्रश्वास (बाहर जानेवाला श्वास) सृष्टिद्योतक और 'सः' निश्वास (अन्दर जानेवाला) लयद्योतक है। प्रणव ही सूक्ष्म हंस है, जिसमें सर्वप्रथम विन्दु अर्थात् घनीभूता निराकारा शक्ति है। यही प्रधान वा यथार्थ ब्रह्म है। यही अवेद्य वा अनिर्वचनीय ब्रह्म है। हरि, हरादि की आराध्या से तात्पर्य्य है सर्वप्रथम वैदिक मन्त्र ॐकार से व्यक्त होने का। अस्तु, शक्तिहीन अर्थात् धर्मशक्तिहीन शिव अर्थात् धर्म्मीशक्ति कोई भी कार्य्य करने में अशक्त हो जाता है। शक्तिहीन होने से, जो भी हो,

असमर्थ कहा जाता है। वन्दन में असमर्थता इस हेतु कही गयी है कि जिसके रूप और गुण का ज्ञान होना दुष्कर है, उसकी वन्दना किस प्रकार हो ? वन्दना का यथार्थ तात्पर्य है ब्रह्मैक्य-चिन्तन और नमस्कार वा प्रणाम तो इस अवस्था में असम्भव ही है कारण प्रणाम का अर्थ स्तुतिकार ने आगे चलकर सम्वेश कहा है (देखिये २८ वाँ श्लोक)। सम्वेश का अर्थ तादात्म्य अर्थात् उसमें एक हो जाना है।

संक्षेप में उक्त श्लोक से शक्ति और शिव में, शक्ति और शक्तिमान् में वा धर्म्मशक्ति और धर्म्मीशक्ति में प्रधानता धर्मशक्ति की ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

तनीयांसं पांशुं तव चरणपंकेरुहभवं,
विरञ्चिः संचिन्वन् विरचयति लोकानविकलम्।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां,
हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूननविधिम्॥ २॥

टीका—ब्रह्मा ने तुम्हारे चरणकमल के धूलिकणों से ही लोकों की सृष्टि की है। विष्णु इन लोकों को किसी प्रकार अर्थात् अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य से अपने हजार शिरों पर रखे हैं। और शिव ने इनको भस्मसात् कर उसकी भस्म से अपने शरीर को धूसरित कर रखा है।

व्याख्या—शक्ति ही कार्य्य का कारण है। जितने और जो भी कार्य्य होते हैं, उनका कारण शक्ति ही है। कारण से तात्पर्य केवल प्रधान कारण से है, अन्य कारणों से नहीं। एक कार्य्य के अनेक कारण होते हैं। यथा घट के कारण अनेक हैं—कुम्भकार, मृत्तिका, दण्ड, जल आदि, परन्तु मुख्य कारण कुम्भ का कुम्भकार ही है अगर उसका कोई प्रेरक न हो। अन्य कारण गौण वा सहकारी हैं। और यदि प्रेरक

हो अर्थात् किसी की प्रेरणा से कुम्भकार घट बनाता है तो वह प्रेरक ही मुख्य कारण होता है। इससे यह समझना ठीक नहीं है कि ब्रह्म की उपाधिस्वरूपा शक्ति प्रपञ्च का कारण है। उपाधिवादी तो वैशेषिक मतवाले हैं, जिनकी असद् कार्य्यवादियों में गणना है। इच्छाशक्ति उपाधिरूपिणी नहीं है। यह सद्ब्रह्म धर्म्मीशक्ति की एक सजातीय धर्म-शक्ति है। वेद यही कहता है कि ब्रह्म के सिवा कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। भेद जो दीखता है, वह बाधित है। गुण अपने सजातीय अर्थात् समान धर्मवाले ही कार्य करते हैं। यथा तन्तुओं से पटरूपी अपने धर्म वा गुणवाले कार्य्य ही सम्पादित होते हैं। इसी प्रकार कारण के गुणों के अनुसार ही कार्य्य होते हैं। यह परमा शक्ति अपनी इच्छाशक्ति ब्रह्मा के द्वारा असंख्य ब्रह्माण्डों की रचना करती है। अतएव उसके पादरज के एक कण से लोकों का सृष्ट होना उसकी महत्ता व्यक्त करता है। वस्तुतः ब्रह्माण्ड असंख्य हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक रुद्र है। इसी हेतु एक ब्रह्माण्ड नित्य लय और उत्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड के लय होने पर उसकी सृजन, पालक और संहारशक्तियाँ लय होती हैं। उस 'महतो महीयान्' की एक-एक इच्छा इसी प्रकार की होती है। सहस्रशीर्षा पुरुष वा शेषनाग से धारक वा पालकशक्ति का बोध होता है। विष्णु की एक संज्ञा शौरिः अर्थात् महावीर है। हर अर्थात् हरनेवाला परमा शक्ति की ही क्रियाशक्ति की सहायता से ब्रह्माण्ड का लय कर अपने शरीर में उसे मिला लेता है। उसका यह लय-कार्य वा भस्मीकरण और अपने में मिला लेना सूर्य्य के जल-शोषण और पुनर्वर्षणवत् पुनः सृष्टिसूचक मात्र है। इस प्रकार तीनों तेरी ही शक्ति से सृष्टि, स्थिति और संहार-क्रियाओं के सम्पादन में समर्थ होते हैं। अन्य शक्तियों की क्या बात, स्वयं महाकाल स्वीकार करते हैं कि मैं तुम्हारी ही प्रसन्नता से सर्व-कार्य-समर्थ होता हूँ। तब चन्द्र-सूर्य्य आदि किस गणना में हैं अर्थात् छोटे-से-बड़े तक किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता वा शक्ति नहीं है।

इससे भगवती परमाशक्ति का 'एकमेवाद्वितीयं' ब्रह्म होना सिद्ध है।

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरोद्दीपनकरी,
जड़ानां चैतन्यस्तवकमकरन्दस्रुतिशिरा।
दरिद्राणां चिन्तामणिगुणनिका जन्मजलधौ,
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवती॥ ३॥

टीका—तुम अज्ञानियों के अज्ञानरूपी अन्धकार के नाश करनेवाले ज्ञानरूपी सूर्य्य हो। तुम बुद्धिहीनों की चैतन्यतारूपी मधु बहानेवाली धारा हो। तुम दरिद्रों की चिन्तामणि की माला की मणि और भवसागर में डूबे हुए मुर राक्षस के शत्रु वराह भगवान् की दंष्ट्रा (दाँत) हो।

व्याख्या—अविद्यावालों से तात्पर्य्य है अशुद्ध विद्यातत्व से व्याप्त लोगों से। विद्यातत्व शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का है। माया, कला, अविद्या, राग, काल, नियति और पुरुष ये सात तत्व विद्यातत्व में हैं। इनमें मायातत्व ने पुरुषतत्व को कला, अविद्या, राग, काल और नियति इन पाँच तत्वों से आवृत कर रखा है अर्थात् पुरुष (आत्मा) के सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्यतृप्तित्व, नित्यत्व और स्वातन्त्र्य-भावों को छिपा रखा है। ऐसे ही अविद्या-ग्रस्तों के हेतु भगवती सूर्य्य वा प्रकाशशक्ति है। जड़ का अर्थ है मात्र अशुद्ध आत्मतत्व से ग्रस्त आत्मा। जड़ता है अचेतनता। अतएव चैतन्य को देनेवाली चित्शक्ति चैतन्यस्तवक कही गई है। स्तवक का अर्थ समूह है। इसकी उपमा मधुधारा से दी गई है कारण चैतन्य ही आनन्ददायक है। मधु अमृत को भी कहते हैं। और अमृतत्व बिना आनन्द प्राप्त नहीं होता। दरिद्र है सम्पत्तिहीन। यह सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—ऐहिक और दैवी। भगवती दोनों प्रकार के सम्पत्तिहीनों के हेतु चिन्तामणि पत्थर है, जो सब कामनाओं की पूर्ति करनेवाला कहा जाता है। अर्थात् भगवती

भोग और मोक्ष दोनों की देनेवाली है—"श्रीसुन्दरीपूजनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।" जैसे वराह भगवान् ने जल-निमग्ना पृथ्वी को, मुर नामक राक्षस को मार, दाँत से ऊपर उठा स्थिर किया, वैसे ही भगवती संसाररूपी सागर में डूबे हुओं का उद्धार करती है। अर्थात् मोक्ष देकर पुनः पुनः जन्म के दुःख से बचाती है। इसका एक रूप वाराही भी है। सागर से पुरुषार्थ का बोध होता है। अन्य रूपों का उल्लेख न करके वाराही रूप का उल्लेख यह बोध कराता है कि भगवती इसी पुरुषार्थ-चतुष्टयरूपी सागर से उद्धार करनेवाली वा पुरुषार्थ-चतुष्टय को देनेवाली है।

इससे भगवती विज्ञान ब्रह्म है और भुक्ति तथा मुक्ति दोनों को देनेवाली है, ऐसा सिद्ध होता है।

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण—
स्त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया।
भयात् त्रातुं दातुं फलमपि च वाञ्छासमधिकं,
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ ॥ ४ ॥

टीका—तेरे सिवा और सभी देवतागण हाथों से रक्षा करते हैं और वर देते हैं। तुम्हीं एक प्रकाश्य रूप से अभय और वर देने की चेष्टा दिखानेवाली नहीं हो, कारण हे जीवों की शरणदायिनी, तुम्हारे दोनों चरण ही भय से रक्षा और कामनाओं की अधिक मात्रा में पूर्त्ति करने में समर्थ हैं।

व्याख्या—अन्य देवतागण से उस चित्शक्ति पूर्णब्रह्म के दूसरे रूपों से तात्पर्य्य है कारण परमाशक्ति तो एक ही है। स्वयं देवी ने कहा है—"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा"—सप्तशती। वेद, वेदान्त और सभी दर्शन एक ही शक्ति, शिव (शक्तिमान्) पुरुष, परब्रह्म, कर्त्ता, ईश्वर आदि संज्ञाओं में अद्वितीया परमा नित्या सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। इस अवस्था में स्तुतिकार का ऐसा प्रयोग द्वैत वा अधमा-

धिकारियों के निमित्त मात्र है। अतएव उक्त वाक्य का भाव यह है कि हे सबकी एकमात्र आश्रय! तुम और और रूपों में अपने हाथों से वर और अभयमुद्राएँ दिखाती हुई अभिनय अर्थात् लीला करती हो कारण तुम्हारे चरणों की शरण जो आता है, वह मुँहमाँगा वर क्या—इससे भी अधिक वर प्राप्त कर सब प्रकार से सुरक्षित हो जाता है। इस हेतु हाथों से वर और अभयमुद्रा दिखलाना लीला मात्र है।

दूसरा भाव यह भी है कि तुम अन्य रूपों में भाविता होने से उस प्रकार के भावुकों अर्थात् मननकर्त्ताओं को वास्तविक वर वा 'मुक्ति' न देकर उनकी तुच्छ लौकिक कामनाओं की पूर्ति कर और वास्तविक शत्रु वा 'अविद्या' से उनकी रक्षा न करके गोचर तुच्छ आधि-भौतिक और आधि-दैविक आपदाओं से उन्हें बचा कर लीला करती हो अर्थात् उन्हें फुसला देती हो। परन्तु अपने इस मोक्ष और भोगदायक रूप के उपासकों की तुम तीनों तापों से रक्षा करती हो और ऐहिक तथा परमानन्द दोनों देती हो। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि दश महाविद्याओं के जो रूप अभय और वरमुद्राएँ धारण किये हैं, उन पर यह बात लागू नहीं होती कारण एक तो सभी महाविद्याएँ चिद्-शक्ति ब्रह्म के एक-एक प्रकार के समान रूप की कल्पनायें हैं। इनमें कोई श्रेष्ठ वा न्यून नहीं है। रूपभेद तो एक चिदचिद् ब्रह्म के गुण-भेदन्याय से कल्पित है। वस्तुतः भेद कुछ भी नहीं है। यदि आद्याकाली निर्गुण, अनिर्वचनीय, अव्यवहार्य्य, अलक्षण ब्रह्म की द्योतक हैं तो द्वितीया विद्या भगवती तारा वचनीय ब्रह्म हैं जो शब्दब्रह्म है। इसी प्रकार तृतीया विद्या भगवती षोडशी विश्वरूप वा प्रपञ्चेशी हैं, जो साकार चित् और अचित् ब्रह्मरूप की द्योतिका शक्ति हैं। स्थूल अनुराग वा भक्तिवश विभिन्न रूपों को न्यून या अधिक कहना पाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह महापशुता (मूर्खता) है और दूसरे यह तो सभी जानते हैं कि महाविद्याओं की क्या कथा—ब्रह्मा, विष्णु और महेश की भी गणना देवगण में नहीं है अर्थात् ये तक देवगण से परे हैं। देवगण का

स्थान वस्तुतः अति तुच्छ है। देवराज इन्द्र की ही महत्ता के ज्ञान से उनके अधीनस्थ देवगण की महत्ता का पता लग जाता है। प्रत्येक जीव एक-एक बार पुण्यबल से इन्द्र होता है और फिर भवचक्र में जन्म ले तिर्यक् योनियों में भी जन्म लेता है। तब महाविद्याओं की श्रेष्ठता सहज ही अनुभव हो जाती है।

यह पद्य बाला के रूप 'ऐं क्लीं सौः' मन्त्र का उद्धार है। इसका संक्षेप में यह अर्थ है—'ऐं' वाक्शक्ति वेद और शास्त्र-प्रतिपादित प्रत्यगात्मा वा ब्रह्म का द्योतक है, 'क्लीं' कामशक्ति (कामेश्वरी) आत्म-गोचर अखण्डाकारवृत्ति का द्योतक है और 'सौः' शक्तिवीज मोक्ष-साधन का द्योतक है। तन्त्रराज में इसकी व्याख्या दी है कि 'ऐं' शुचि है अर्थात् त्रयीमय है, 'क्लीं' वाच्य-वाचक रूप प्रपञ्च का कारण है और 'सौः' से विश्वात्मरूपा' का बोध होता है। दार्शनिक शब्दों में इससे ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेयरूपिणी त्रयी शक्ति का बोध होता है।

इससे भगवती का लीलामयी होना सिद्ध है।

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं,
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरो ऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा,
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥ ५॥

टीका—शरणागतों को सौभाग्य देनेवाली तुझको पूर्वकाल में हरि ने आराधना से सन्तुष्ट कर स्त्री का रूप धारण कर त्रिपुरनाशक शिव को भी मोहित कर लिया था। स्मर अर्थात् कामदेव भी तुमको नमस्कार कर रति को लुभानेवाले रूप से मुनियों के भी मन को मोह लेता है।

व्याख्या—श्लोक के प्रथम पद में विष्णु-द्वारा मोहिनी-मूर्त्ति धारण कर त्रिपुर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और पर अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं के परे तुरीयावस्था में पहुँच जानेवाले योगीश्वर

शिव को भी मोहापन्न करने का उल्लेख है। भाव यह कि हरि अपनी आराधना वा कामकला-ज्ञान से स्त्रीरूप वा स्वयं जगदम्बा के रूप को प्राप्त कर सब तरह से तादात्म्य हो तुरीयावस्था-स्थित ज्ञानियों को भी मोह लेते हैं। अविद्या ज्ञानी को भी नहीं छोड़ती जब तक कि वह तुरीयातीतावस्था में न पहुँच जाय। शिव से यहाँ अपर-शिव से तात्पर्य्य है। वैसे ही विष्णु से ब्रह्म नहीं किन्तु पालक शक्तिमान् से तात्पर्य्य है। दूसरे पद में स्मर और रति का उल्लेख है। यह स्मर वा कामदेव कामेश्वर के अतिरिक्त हैं, जो पर-कामदेव हैं, अपर-कामदेव नहीं। काम वा वासना दो प्रकार की है। वाञ्छनीय और अवाञ्छनीय। कामेश्वर से शुद्ध वासना के देनेवाले से तात्पर्य्य है। इसको दूसरे शब्दों में विमर्शशक्ति (शाक्त-दर्शन के अनुसार जिसमें केवल शक्ति की ही प्रधानता है) कहते हैं और रति से कामेश्वरी प्रकाश-शक्ति से तात्पर्य्य है। रति का अर्थ है समाधि अर्थात् जीव-ब्रह्मैक्य। नित्य-कामेश्वर का नित्या-कामेश्वरी को लुभाने का तात्पर्य्य है विमर्श से, जिससे रति वा समाधि की प्राप्ति होती है। शिव-शक्ति अर्थात् आत्मा और परमात्मा के योग को रति कहते हैं। यही काम-कला-भावना है। 'हं' और 'सः' का योग रति है।

इस श्लोक में साध्य—सिद्धासन विद्या अन्तर्लक्ष्य रूप से है। यह 'ह्रीं क्लीं व्लें' बीजों का उद्धारक वचन है। हरि शब्द से 'ह' और 'जननी' से 'ई' = 'ह्रीं', स्मर वा काम से कामबीज 'क्लीं' और 'वपुषा' से 'व', 'लेह्य' शब्द से 'ले' और 'मुनीनाम्' से अनुस्वार से 'ह्रीं', 'क्लीं' और 'व्लें' मन्त्र बनता है।

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी पञ्चविशिखा,
वसन्तः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः।
तथाप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपा–
मपांगात्ते लब्ध्वा जगदिदमनंगो विजयते ॥ ६ ॥

टीका—हे हिमालयकन्ये ! भ्रमरों की ताँतवाला पुष्प-धनुष और पाँच कुसुम-शर लिये बसन्त-द्वारा चालित मलयवायु के रथ पर बैठा अशरीरवान् कामदेव तुम्हारे कृपाकटाक्ष के प्रताप से ही इस संसार को विजय करता है।

व्याख्या—अनङ्ग से कामेश्वर वा विमर्शशक्ति से तात्पर्य्य है। इसका आयुध मन है, जिसका द्योतक धनुष है। पुष्पमय धनुष से शोधित पर-मन से तात्पर्य्य है। वचनादान-गमन-विसर्गानन्दहानोपादनोपेक्षा रूपी आठ प्रकार के कुसुमरूपी बुद्धि का बना धनुष वा मन है। भ्रमरों से तात्पर्य्य मुमुक्षुओं से है, जो इन पुष्पों का मधु अर्थात् आनन्द इकट्ठा कर मुक्त हो जाते हैं और पाँचों पुष्पवाणों से शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं से तात्पर्य्य है। इन्हीं आयुधों वा उपकरणों से स्थूलरूप में संसार मोहित होता है अर्थात् अपर-मन वा संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति से जीव बद्ध होता है और सूक्ष्मरूप से पर-मन वा संकल्प-विकल्प-रहित मन से संसार को जीत लेता है अर्थात् भवसागर के पार हो जाता है। यह केवल भगवती की कृपा से ही होता है, जब वह आत्मा को ऐसी बुद्धि देती है। इस पद्य से 'क्लीं' मन्त्र का उद्धार होता है। 'कामपि' से क, 'मलय' से 'ल', 'मौर्वी' से 'ई' और "पौष्पं" से अनुस्वार इनके मिलाने से 'क्लीं' वा कामवीज बनता है।

इससे कामवीज के मनन से मुक्ति होती है, ऐसा बोध होता है। और ऐहिक तुच्छ कामनाओं की भी पूर्ति होती है।

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तनभरा,
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः,
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका ॥ ७ ॥

टीका—शिव की पुरुषार्थस्वरूपा नन्हीं घण्टिकाओं से भूषित पतली कमरवाली, हाथी के बच्चे के पुष्ट ललाट के समान सुपुष्ट, स्तनवाली

और शरद् ऋतु के पूर्णचन्द्र-समान कान्तिवाली, हाथों में धनुष, वाण, पाश और अंकुश लिये भगवती हम लोगों के सामने आवे।

व्याख्या--शिव की पुरुषार्थस्वरूपा से तात्पर्य्य है कि भगवती ही शिव की आश्रयभूता शक्ति है अर्थात् इसी के बल पर शिव का ऐश्वर्य्य स्थित है। भाव यह है कि शिव प्रकाश के रूप में अपनी विमर्शशक्ति में प्रतिबिम्बित होकर ही अपने असली रूप का ज्ञाता वा चैतन्य होता है। 'आहोपुरुषिका' का साधारण अर्थ अहंकार है। परन्तु यह अहंकार बन्धन का कारण अपर-अहंकार नहीं है। यह पर-अहंकार है, जो वाञ्छनीय है। "पुरमथिता" से योगीमात्र से तात्पर्य्य है, जो पुरों वा देह-स्थित चक्रों का भेदन करता है। अथवा ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेयरूपी तीनों पुरों का भेदन कर ब्रह्मपुर को जाता है। हठयोगी को षट्-चक्र का भेदन कर सहस्रार जाना है और ज्ञानयोगी को षट्ज्ञान-भूमिकाओं के परे ज्ञान की सप्तम भूमिका अर्थात् तुरीयावस्था में जाना है। त्रिपुर से तात्पर्य्य जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त्यवस्थात्रय से है।

'क्वणत् काञ्चीदामा' के कई तात्पर्य्य हैं। किन्तु मुख्यतः इससे शब्द-ब्रह्म वा नाद का ही बोध होता है। इस नादध्वनि से ही प्रपञ्च हुआ है और स्थित है। भगवती का सूक्ष्म स्वरूप विन्दु है। यह ध्वनि इसी विन्दु के नाद से है। 'स्तनभरा' से पालयितृ शक्ति से तात्पर्य्य है। 'परिणतशरच्चन्द्रवदना' से पूर्ण निर्मल ब्रह्म से तात्पर्य्य है। शरद ऋतु से मेघरहित आकाश अर्थात् चिदाकाश का बोध होता है। इससे निर्मलत्व प्रकट होता है। धनुष, वाण (पञ्चवाण), पाश और अंकुश से क्रमशः चित्तवृत्ति, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, राग और क्रोध से मतलब है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि इन आयुधों से आत्म-ज्ञान कैसे हो सकता है? तो चित्त-वृत्ति के पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में करने से ही अन्तर्मुखी वृत्ति होती है। राग (वासना) और क्रोध को, जो अहंकार के परिणाम हैं और मोह को, जो नाश का कारण है, वश में करने से ही ब्रह्मज्ञानदायक आत्म-ज्ञान होता है। इन चारों आयुधों का यह भी भाव है कि भगवती इनसे

उपासकों की निर्विकल्प समाधि का विघ्नचतुष्टय कषाय, लय, विक्षेप और रसास्वाद क्रमशः दूर करती है। दोनों स्तन और मुख से भाव कामकला में हकारार्द्ध रूपा है।

इस पद से शिनी बीज "व्लूँ" का उद्धार होता है। 'बाणान्' से 'व', 'करतलैः' से 'ल', 'दुरर्माथितुः' से 'उ' और 'आस्तां' से विन्दु।

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिवृते,
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्य्यंकनिलयां,
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥ ८॥

टीका—थोड़े से ही भाग्यवान् हैं, जो चित् और आनन्द की धारा-रूपिणी, अमृत-सागर के मध्य में मणिद्वीप में अलौकिक वृक्षों के उद्यान से वेष्टित और नीपवृक्षों के उपवन से युक्त चिन्तामणि गृह में परम शिवरूपी पलंग पर (जिसके चार शिव आधारस्वरूप हैं) बैठी हुई तुमको भजते हैं।

व्याख्या—शक्ति और शिव का सामरस्य 'परमशिवपर्यंकनिलयां' से बोध होता है। जैसे पिण्ड वा जीव के शरीर में परमशिव (परमाकाश रूप में) सहस्रार में ब्रह्मरन्ध्र-स्थान में है, वैसे ही समष्टिरूपी प्रणव में वह विन्दु के नीचे नादरूप में है। इससे नादरूपी परमशिव ही विन्दुरूपिणी शक्ति का पर्य्यङ्क अर्थात् आधार है। सुधासिन्धु सहस्रार-संलग्न अमाकला है। इसी के ऊपर विन्दु-विसर्गरूपी शक्ति रहती है। चिन्तामणि-गृह का अर्थ है इच्छानुकूल वरप्राप्ति का स्थान। मणिद्वीप से तात्पर्य्य है परंज्योति से। जैसे सुधा से चैतन्य वा चित्शक्ति का और सिन्धु से सर्वव्यापकता का बोध होता है, वैसे ही अभानापाद का आवरण हट जाने से चैतन्य वा चित्शक्ति का प्रकाश देखने में आता है। नाना वृक्ष हैं नाना प्रकार की कर्म-वासनायें। 'सुरविटपिवाटी' से कल्पवाटिका से मतलब है। यह व्यष्टि में संकल्प-तरु अर्थात् काम-

चारिणी वृत्ति है। इसी वृत्ति से जीव जैसी इच्छा कर कर्म करता है, वैसा ही फल इस जन्म में वा अपर जन्म में पाता है। समष्टि में यही प्रपञ्च का कारण है। उपनिषदों में इसे तेज कहा है। यह परमाशक्ति की इच्छाशक्ति को व्यक्त करता है। परमशिव और आधाररूप चार शिवों से यह तात्पर्य्य है कि सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के बीच में पाँच अवस्थायें हैं। इन पाँचों अवस्थाओं को पार करके ही निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। यह समाधि जीवन्मुक्तावस्था की द्योतक है। इस अवस्था में वाधितानुवृत्ति रहती है अर्थात् रज्जु में सर्प का भान होता है। भले ही इससें भय वा दुःख न हो। परन्तु जब तक रज्जु, अन्धकार और आँखें हैं तब तक सर्प की भ्रान्ति होगी, चाहे क्षणिक ही हो। यद्यपि इस सोपाधिक भ्रान्ति से अनिष्ट की सम्भावना नहीं है तथापि इसका निवारण करना युक्त है। यह होगा सहजावस्था की प्राप्ति से। सहजावस्था वा निर्विकल्प समाधि सविकल्प समाधि से पाँच मात्रा परे है। ये पाँच अवस्थाएँ हैं—साम्य, पर-लय, विनाश, अत्यन्ताभाव और ऐक्य।

१ साम्यावस्था वह है, जिसमें जीवोपाधि अर्थात् अहंभाव का लय होकर ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय इस शुद्ध त्रिपुटीभाव का आभास मात्र रह जाता है। प्रयाग के त्रिवेणी-संगम पर यमुना का नीला प्रवाह गंगा के श्वेत प्रवाह में मिलकर एक हो गया है तथापि किञ्चित् दूर तक काली रेखा दीख ही पड़ती है। इसी प्रकार इस अवस्था में भी ब्रह्मभान में जीवभान भी है।

२ लयावस्था वह है, जिसमें पूर्वोक्त शुद्ध त्रिपुटी का भी लय हो जाता है। एक—केवल एक—रह जाता है, जो कहा नहीं जा सकता है।

३ विनाशावस्था में अखण्डोपाधि की भी निवृत्ति होती है। निवृत्ति दो प्रकार की है—लय और नाश। लयनिवृत्ति सुषुप्तावस्था में और नाशनिवृत्ति तुरीयावस्था में जगद्भास की द्योतक है।

४ अत्यन्तावस्था में जीव-चेतनता, ब्रह्म-चेतनता वा सर्व-चेतनता में भेद नहीं रह जाता है।

५ ऐक्यावस्था अतीतोदिता वा अनामाख्या अवस्था को कहते हैं। इसको बोधातीता भी कहना युक्त नहीं है कारण यह बुद्धि से परे है। बुद्धि से परे इस हेतु है कि जो बुद्धि से परे है, उसी से ऐक्य हो जाता है। अतएव जब इस अवस्था के स्वरूप को हृदयंगम करना दुष्कर है तो इसका वचन-द्वारा वर्णन करना असम्भव ही है।

इन पाँचों अवस्थाओं के द्योतक परमाशक्ति के पर्य्यंक के चारों पाद ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर (ईशान) तथा पाँचवाँ कशिपु का द्योतक सदाशिव है।

इस श्लोक से कामेश्वरी वीज 'क्लीं' और सदाशिव महाप्रेत वीज 'ह्सौः' का उद्धार होता है।

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरिं।
मनो अपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ॥ ९ ॥

टीका—(हे देवि) तुम मूलाधार में पृथ्वी को, स्वाधिष्ठान में अग्नि को, मणिपुर में जल को, हृदय (अनाहत) में वायु को, इसके ऊपर (विशुद्धि में) आकाश को, भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में मन को—इस प्रकार सम्पूर्ण कुलमार्ग को भेदकर सहस्रार में सूक्ष्मभाव से अपने पति के साथ रमण करती हो।

व्याख्या—यह अन्तर्याग का वर्णन है। इसमें परमा भगवती को कुण्डलीरूपा मान उसकी क्रिया का उल्लेख हुआ है। ये छहों चक्र ज्ञानयोग में ज्ञान की छः भूमिकायें कही जाती हैं। इसके पूर्व-पद्य में भगवती के समष्टिरूप का वर्णन था और इसमें व्यष्टिरूपिणी कुण्डली

का वर्णन है। कुण्डली जीव में साढ़े तीन गुणा है और श्रीमहाषोडशी सोलह गुणावाली समष्टिकुण्डली है। कुण्डली स्वेच्छा से ही गुणिता होती है। 'पत्या विहरसि' अर्थात् 'पति के साथ रमण करती हो' का भाव है योग से। योग कहते हैं मिथुन वा युग्म के एकीकरण को। 'रहसि' का अर्थ है 'एकान्त में'।

इसी साधन की क्रिया का सिंहावलोकन इस पद्य में दिखलाया गया है। संक्षेप में कुल-कुण्डली के उत्थान का दिग्दर्शनरूप यह पद्य है।

सुधा-धारा सारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः,
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं,
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि ॥१०॥

टीका—तब तुम पुनः अपने पदयुगल से बहती अमृतधारा से शरीर को सींचती हुई वलयाकार सर्प के समान अपने वास्तविक रूप को धारण कर अपने मूल निवासस्थान कुल-कुण्ड में सोती हो।

व्याख्या—इस पद्य में कुण्डली का अवरोहण और उसका परिणाम दिखाया है। पूर्व-पद्य में कुण्डली के आरोहण से प्रपञ्च वा शरीर के चक्रों अर्थात् वृत्तियों का लय हो गया था। अब अवरोहण से कुण्डली इन चक्रों को अमृत अर्थात् विशेष यथार्थ ज्ञान से सींचती है अर्थात् वृत्तियों को निर्मल करती है। 'रसाम्नायमहसा' से यह भाव है कि कुण्डली जब सहस्रार में रहती है तब अपर-ज्ञान नहीं रहता है कारण यह समाधि की अवस्था है। अपर-ज्ञान से मिथ्या ज्ञान से मतलब है। जैसे 'जीव और ब्रह्म में भिन्नता है; अपने कर्मों के फलस्वरूप जीव विश्व में कर्त्ता और भोक्ता है; ईश्वर जीव से भिन्न है और जीव को अपने कर्मों का फल देनेवाला है'—ये सब बातें अयथार्थ हैं कारण जीव शिव से भिन्न नहीं है। विश्व का कर्त्ता और भोक्ता ईश्वर है और ईश्वर जीव को दण्ड वा पुरस्कार नहीं देता है। जीव अपनी अज्ञानता से अपने को भोक्ता

समझ सुख वा दुःख का अनुभव करता है। जब कुण्डली लौट आती है तब विश्वज्ञान पुनः उदय होता है; परन्तु पदार्थ का यथार्थ विशेष ज्ञान हो जाता है कारण सुधा-सिञ्चन अर्थात् क्षणिक ब्रह्मज्ञान से वृत्तियाँ निर्मल हो जाती हैं। कुण्डली के इस आरोहण के अभ्यास से असम्प्रज्ञात समाधि स्थिर होती है। 'कुलकुण्ड' मूलाधार-स्थित त्रिकोण को कहते हैं। इसको मातृ-योनि भी कहते हैं। कुल का एक अर्थ शक्ति भी है और कुण्ड योनि का एक दूसरा नाम है। कुण्डली 'अणोरणीयान्' अर्थात् अणु का भी अणु है।

इस पद्य से कुण्डली-योग की महत्ता का बोध होता है।

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि,
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाब्जत्रिवलय,
त्रिरेखाभिः सर्द्धंतव भवनकोणाः परिणताः॥ ११॥

टीका—चार श्रीकण्ठों (शिव) शम्भु नौ प्रकृति रूप से पाँच युवतियों (शिव) तेरा वासस्थान से बना है। कोणों की संख्य तेंतालिस है। इसकी तीन वृत्तियाँ, तीन रेखायें और आठ सोलह तथा दल वाले क्रमशः दो कमल (चक्र) हैं।

व्याख्या—यह श्लोक श्रीचक्र का उद्धारक है। इस चक्र के बाह्य वा स्थूल ज्ञान से बहिर्याग वा अपरा पूजा, वा सूक्ष्म ज्ञान से पर परा वा मिश्र पूजा और पूर्णज्ञान से परा पूजा की जाती हैं। यह चक्र जीव के देह में भी है। इसी से—"देहो देवालयः प्रोक्तो वो देवः सनातनः"—श्रुति में कहा है।

चक्रपूजन से आत्मानुसन्धान से तात्पर्य है। इसी से चक्रपूजा परा पूजा है। इसी चक्र की बनावट का 'नकशा' यह पद्य है। चार शिव से चार शिवात्मक ऊर्ध्वमुख त्रिकोणों से और पाँच शिव-युवतियों से

पाँच शक्त्यात्मक अधोमुख त्रिकोणों से तात्पर्य है। ऊर्ध्व से ऊर्ध्वगामिनी वृत्तियों का और अधोमुख से प्रपञ्चगामिनी वृत्तियों का बोध होता है। चारों शिवात्मक कोणों को माया, शुद्ध विद्या, महेश्वर और सदाशिव (सदाख्य) कहते हैं। ये ऊर्ध्वगामी इस हेतु कहे गये हैं कि ये ब्रह्म को बतलानेवाले हैं। सदाख्य में ही "सोहं" की भावना होती है। पाँचों धर्मशक्त्यात्मक त्रिकोणों से तात्पर्य है पाँच भूत, पाँच तन्मात्रायें, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण। इनको अधोमुख इस हेतु कहा गया है कि इनसे ही प्रपञ्च का विकाश हुआ है। इन नवों से श्रीचक्र बना है। चक्र का एक अर्थ है शक्ति-समूह। भाव यह है कि विविधिरूपा शक्तियाँ एक ही पराशक्ति की इच्छाशक्ति से हुई हैं। तेंतालिस कोणों से तेंतालिस तत्वों का बोध होता है। ये तत्व विभिन्न मत से भिन्न-भिन्न हैं। तीन रेखाएँ स्थूलरूप से भूः, भूवः और स्वः इन त्रिलोकों की, सूक्ष्मरूप से ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय-रूपी त्रिगुणों की द्योतक हैं। अष्टदल से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य और पाप का बोध होता है। इन आठों की अधिष्ठातृ देवतायें ब्राह्मी आदि अष्टशक्तियाँ हैं। षोडशदल से मन के सोलह विकारों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नाक, वाक्, हस्त, पाँव, पायूपस्थ—से मतलब है। इनकी अधिदेवतायें कामाकर्षिणी आदि सोलह शक्तियाँ हैं।

त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं,
कवीन्द्राः कल्पन्ते कथमपि विरञ्चिप्रभृतयः।
यदालोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा,
पशूनां दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम् ॥१२॥

टीका—हे हिमगिरिसुते ? ब्रह्मादि देव तुम्हारी सुन्दरता का पूर्ण अनुभव न कर पा किसी प्रकार कल्पना कर लेते हैं। देवस्त्रियाँ तुम्हारी अलौकिक सुन्दरता के ध्यान से अज्ञानियों को दुष्प्राप्य शिव-सामरस्यावस्था को प्राप्त करती हैं।

व्याख्या—'तुहिनगिरिसुते' का सूक्ष्म अर्थ है आनन्द वा अमृत-लहरी। हिमगिरि है सोममण्डल, जो सहस्रार में है। इसी सोमण्डल से आनन्द की धारा उत्पन्न होती है। इसी हेतु आनन्दलहरी को हिमकन्या-स्वरूपा कवियों द्वारा माना गया है। अन्यथा जो समस्त ब्रह्माण्डमण्डल की जननी है, उस अजा को जड़ प्रस्तर-गिरि की सन्तान कैसे कह सकते हैं? ब्रह्मादि त्रिदेवों को कवीन्द्र इसलिये कहा है कि वेदों के ब्रह्मा, पञ्चम वेद आगमों के शिव और विभिन्न ब्रह्म-प्रतिपत्तियों के विष्णु यथार्थ कवि हैं। ये भी तुम्हारी सुन्दरता का पूरा ज्ञान नहीं रखते हैं कारण ये प्रपञ्चनायक—व्यवसायात्मिका बुद्धि-वाले हैं। 'अमरललना' का अर्थ है अमरत्व की इच्छा करनेवाले अर्थात् मुमुक्षु। अलौकिक से तुरीयावस्था से तात्पर्य है। 'पशूनां' से तात्पर्य है बाह्यदर्शन-प्रधान जीवों अर्थात् अज्ञानियों से।

इससे अव्यवसायात्मिका बुद्धिवाले वीराचारी सायुज्य को प्राप्त करते हैं, ऐसा बोध होता है।

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जड़ं,
तवापांगालोके पतितमनुधावन्ति शतशः।
गलद्वेणीबन्धाः कुचकलशविस्रस्तसिचया,
हठात् त्रुट्यत्कांच्यो विगलितदुकूला युवतयः ॥१३॥

टीका—जिनके केश खुले हैं, कुम्भ-सदृश जिनके बड़े-बड़े स्तनों पर से ऊर्ध्ववस्त्र हट गया है और काञ्ची टूट जाने से जिनका अधोवस्त्र गिर गया है, ऐसी सैकड़ों युवतियां उस बूढ़े के पीछे दौड़ती हैं, जिस पर तुम्हारा एक कटाक्ष भी पड़ जाता है यद्यपि आयुवृद्धि-वश वह आँख से रहित और प्रेमरस के अयोग्य हो गया है।

व्याख्या—वयोवृद्ध बूढ़े से तात्पर्य्य अनेक जन्मसंसिद्ध व्यक्ति से है, जिसकी बहिर्मुखी वृत्ति नष्ट होकर केवल अन्तर्मुखी वृत्ति रह गई है और जिसकी कामवृत्ति जड़ हो गयी है। ऐसे व्यक्ति के तुम्हारे

कटाक्ष वा अनुग्रह का पात्र होने से, उसके पीछे सैकड़ों युवतियाँ अर्थात् असंख्य सिद्धियाँ नग्न अर्थात् पूर्णरूप से अनावृता होकर दौड़ पड़ती हैं। ये सिद्धियाँ तुम्हारी प्राप्ति में विघ्न-स्वरूपा हैं। सिद्धि-भोग में अनिष्ट की सम्भावना है। क्षुद्र भोगों के लोभ में पड़ जीव परम भोग वा मुक्तिपथ से विचलित हो जाता है। 'अनुधावन्ति' से स्पष्ट है कि मुमुक्षु इन क्षुद्र सिद्धियों के प्रति सर्वथा उदासीन हो अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर होता जाता है और ये सिद्धियाँ उसके पीछे-पीछे (अनु) दौड़ती जा रही हैं। एक बार परमानन्द का आस्वादन कर वह भला किस हेतु अनित्य आनन्द के आभास की इच्छा कर सकता है?

क्षितौ षट्पञ्चाशत् द्विसमधिकपञ्चाशदुदके,
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपञ्चाशदनिले।
दिवि द्विःषट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्टिरिति ये,
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम् ॥१४॥

टीका—हे माता! पृथ्वी की छप्पन, जल की बावन, अग्नि की बासठ, वायु की चौवन, आकाश की बहत्तर और मन की चौंसठ किरणें हैं परन्तु तुम्हारे दोनों पद-कमल इन सबके ऊपर हैं।

व्याख्या—इसके कई तात्पर्य हैं। एक तात्पर्य यह है कि मूलाधार या पृथ्वीतत्व, स्वाधिष्ठान या जलतत्व, मणिपुर या अग्नितत्व, अनाहत या वायुतत्व, विशुद्धि या आकाशतत्व और आज्ञा या मनःतत्व इन चक्रों की किरणों से एक चान्द्रवर्ष ३६० दिन का बनता है। इनके परे हैं तुम्हारे दोनों पदकञ्ज, जो नाद और अपर-विन्दुरूप हैं। इस प्रकार भगवती का काल से भी परे होना बोध होता है। कवि की यह उक्ति महाषोडशी भगवती के प्रति है। कारण इन्हीं के अन्य रूप पञ्चदशी सुन्दरी ललिता के पञ्चदशी मन्त्र से पन्द्रहों तिथियों से काल का परिणाम ज्ञात होता है। षोडशी में सोलह नित्यायें हैं।

दूसरा तात्पर्य चक्रों से छहों ऋतुओं से है। वसन्त ५६, ग्रीष्म ५२ और अन्य चारों ऋतुएँ क्रमशः ६२, ५४, ७२ और ६४ दिनों की होती हैं। इनके परे भगवती के नाद और विन्दुरूपी दोनों चरण हैं। अर्थात् भगवती सौरवर्ष के परे है।

स्वामी अच्युतानन्द का सिद्धान्त है कि 'मयूखा' का अर्थ मातृका है। मातृकाओं के भिन्न-भिन्न समूह (मण्डल) इस प्रकार हैं—

(१) ५६ मयूखाओं का मण्डल ५० मातृकाओं और छः बीजों—'ऐं, ह्रीं, श्रीं, ऐं, क्लीं, सौः' का है। ये पृथ्वी-किरणें हैं।

(२) ५२ मयूखाओं का दूसरा मण्डल ५० मातृकाओं और दो वीजों—'सौ' और 'श्रीं' का है। ये जल-किरणें हैं।

(३) ६२ मयूखाओं का तीसरा मण्डल ५० मातृकाओं, १४ वें स्वर की चतुरावृत्तियों, 'हं' और 'सः' इन दोनों की चतुरावृत्तियों का है। ये अग्नि-किरणें हैं।

(४) ५४ मयूखाओं का चौथा मण्डल ५० मातृकाओं और यं, रं, लं, और वं इन चार वीजों का है। ये वायु-किरणें हैं।

(५) ७२ मयूखाओं का मण्डल प्रथम चौदह स्वरों की पञ्च-वृत्तियों और 'एं' तथा 'ह्रीं' वीजद्वय का है। ये आकाश-किरणें हैं।

(६) ६४ मयूखाओं का मण्डल समस्त सोलहों स्वरों की चतुरा-वृत्तियों का है। यह मन की किरणें हैं।

ज्योतिरूपा पराशक्ति की अनन्त किरणें हैं। किरणों से जगत् की उत्पत्ति होती है। सोम, सूर्य्य, अनलात्मक यह जगत् इन्हीं तीनों की किरणों से बना है। जैसे ब्रह्माण्ड में अग्नि, सूर्य्य और सोममण्डल हैं, वैसे ही पिण्डाण्ड में अग्नि के पृथ्वी और जल (मूलाधार और स्वाधिष्ठान), सूर्य के अग्नि और वायु (मणिपुर और अनाहत) और सोम के आकाश और मन (विशुद्धि और आज्ञा) ये दो-दो मण्डल हैं।

मयूख का अन्य अर्थ है परिमाण (नाप), जब 'मा' धातु से यह शब्द बनता है। इस भाव से भगवती का अपरिमेय वा अतुलनीय होना बोध होता है।

शरज्ज्योत्स्नाशुभ्रां शशियुतजटाजूटमुकुटां,
वरत्रासत्राणस्फटिकगुणिकापुस्तककराम्।
सकृन्नत्वा न त्वां कथमिव सतां सन्निदधते,
मधुक्षीरद्राक्षामधुरि मधुरीणा भणितयः ॥ १५ ॥

टीका—कविगण यदि शरद्ऋतु की चाँदनी-जैसी निर्मला, जटाजूट पर चन्द्रवाली, चारों हाथों में वर, अभय, स्फटिकमाला और पुस्तक लिए तुम्हारा अभिवादन और मनन न कर लिया करें तो उनकी रचना मधु, दुग्ध और द्राक्षा (अंगूर) के समान मधुर कैसे हो ?

व्याख्या—पद्य-कथित ध्यान भगवती त्रिपुरसुन्दरी का वाग्भव या वागीश्वरीरूप है। इस पद्य को सारस्वत-प्रयोग भी कहते हैं, जिससे कवित्व-शक्ति मिलती है। ध्यान का तात्पर्य यह है कि शरद्ऋतु की ज्योत्स्ना जैसी शुभ्रा होने से भगवती का निर्मला अर्थात् तम और रजोगुण से परे सत्वगुण-प्रधाना होना बोध होता है। जटा-जूट से भगवती निर्गुणा है, यह नहीं, किन्तु सत्वगुणोपेता है, यह प्रकट होता है। चन्द्रमा मुकुट पर है, इसका यह भाव है कि भगवती अमृतत्वदायिनी है। विज्ञान ही अमरत्व-दायक है। अतएव वह विज्ञानस्वरूपा है, ऐसा बोध होता है। वर से मतलब है ज्ञानोपदेश से। त्रासत्राण अर्थात् अविद्या के भय से रक्षा करती है। स्फटिकमाला पचास मातृकावर्णों की द्योतक है अर्थात् वह शब्दब्रह्म है। पुस्तक से तात्पर्य है परा और अपरा विद्या से। पूर्व-पद्य में परब्रह्मरूपिणी कालागोचरा का और इसमें शब्दब्रह्मरूपिणी भगवती का उल्लेख है। प्रथम शब्दब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि यही परब्रह्म का ज्ञान देता है।

कवीन्द्राणां चेतः कमलवनवालातपरुचिं,
भजन्ते ये सन्तः कतिचिदरुणामेव भवतीम् ।
विरञ्चिप्रेयस्यास्तरुणतर शृङ्गारलहरी,
गभीराभिर्वाग्भिर्विदधति सभारञ्जनममी ॥ १६ ॥

टीका—बड़े-बड़े कवियों के हृदय-कमल को विकसित करती हुई उदयकालिक सूर्य के समान सुन्दर लाल वर्णवाली तुम्हारा जो विद्वान् भजन करते हैं, वे अपने गम्भीर शब्दरूपी सरस्वती की शृङ्गार-लहरी से सबके मन प्रसन्न करते हैं।

व्याख्या—उक्त विद्वान् हैं पूर्वोक्त सारस्वत-प्रयोग में निपुण साधक। चक्रभेदन ही कमल का विकाश है। जैसे सन्ध्या होते ही कमल संकुचित हो जाता है और प्रातः प्रकाश पाते ही विकसित हो उठता है, वैसे ही साधकों का हृदय-कमल कुण्डली का प्रकाश पाकर विकसित होता है, जब कि वह ऊपर अनाहत तक उठती है और जब वह नीचे रहती है तो हृदय-कमल बन्द रहता है। 'विरञ्चिप्रेयसी' अर्थात् सरस्वती से, जो ब्रह्मा की शक्ति है, श्रीसुन्दरी भगवती के सरस्वती-रूप का बोध होता है। इस रूप का उल्लेख पूर्व-पद्य में भी हो चुका है।

सवित्रीभिर्वाचां शशिमणिशिलाभंगरुचिभिः,
वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि संचिन्तयति यः ।
स कर्त्ता काव्यानां भवति महतां भंगिसुभगैः,
वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोदमधुरैः ॥ १७ ॥

टीका—हे जननि ! चन्द्रमणि के समान सुन्दर और वाक्शक्ति की देनेवाली वशिनी आदि शक्तियों-सहित तुम्हारा जो सम्यक् चिन्तन करता है, वह सरस्वती के मुख-कमल की सुगन्ध से मधुर वाक्यवाले काव्यों का रचयिता होता है।

व्याख्या—यह पद्य शक्तिकूट की अधिष्ठातृ देवता ज्ञान-शक्ति के मनन का फल व्यक्त करता है। पञ्चदशाक्षरी महामन्त्र 'क ए ई ल ह्रीं

ह स क ए ई ल ह्रीं सकल ह्रीं' (इसका समन्वय 'तत् त्वं असि' महावाक्य से है) में तीन भाग हैं। इस ज्ञानशक्ति की आठ उपशक्तियों—वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेशी और कौलिनी की पूजा अष्टार (सर्वरक्षाकरचक्र) में होती है। ये आठ शक्तियाँ शीत, उष्ण, सुख, दुःख, इच्छा, गुणक्रम से हैं। ये क्रमशः मातृका वाक्शक्ति क, च, ट, त, प, य, श (सात वर्ग की) और समस्त सोलहों स्वर की द्योतक हैं। इनको श्रुतियों के विभिन्न प्रतिपादक अंग भी कहा गया है। यथा वशिनी श्रुति-विभाग है, जो यह प्रतिपादन करता है कि समस्त विश्व ब्रह्म (चिदचित्) है और आत्मा से भिन्न नहीं है। कामेश्वरी ब्रह्म-आत्मा के ऐक्य का प्रतिपादन करती है। मोदिनी ब्रह्म-ज्ञान से अभिन्न आत्मज्ञान का माहात्म्य बताती है। विमला अज्ञानरूपी आवरण दूर करने में उपदेशस्वरूप सहायता देती है। अरुणा ब्रह्म-जीवैक्यता की घोषणा करती है। जयिनी सत् की अखंडता सिद्ध करती है। सर्वेश्वरी जीवन्मुक्तावस्था का और कौलिनी विदेहावस्था का प्रतिपादन करनेवाले श्रुति-विभाग से सम्बन्धित हैं।

तनुच्छायाभिस्ते तरुणतरणिश्रीधरणिभिः,
दिवं सर्वामूर्वीमरुणमणिमग्नां स्मरति यः।
भवन्त्यस्य त्रस्यद्वनहरिण शालीननयनाः,
सहोर्वश्या वश्याः कति कति न गीर्वाणगणिकाः ॥१८॥

टीका—उदयकालीन सूर्य के वर्ण के समान लाल रंग के तुम्हारे पृथ्वी-स्वर्गमय शरीर का जो स्मरण करता है, वह जंगली हरिण के चञ्चल नेत्रवत् चपल नेत्रवाली उर्वशी आदि स्वर्गीय अप्सराओं को भी वश में कर लेता है।

व्याख्या—इस पद्य से भी ज्ञान-शक्ति के स्मरण की महिमा बोध होती है। पूर्व-पद्य में चिन्तन का फल दिखाया गया है और इससे स्मरण अर्थात् श्रवण मात्र का प्रभाव ज्ञात होता है। पूर्वोक्त पद्य में

अकृतोपासकों अर्थात् संशय और विपरीत भावनारूप त्रुटियोंवाले साधकों को मनन करने का आदेश दिया गया है और इस पद्य में उत्तमाधिकारियों अर्थात् कृतोपासकों को गुरु-द्वारा महामन्त्र के श्रवण वा अनवरत स्मरण के लिए उपदेश किया गया है। सुना गया पदार्थ-ज्ञान स्मरण करने से ही स्थिर रहता है अन्यथा अर्थ वा भाव को भूल जाने से 'श्रवण' निरर्थक हो जाता है। अतः केवल सुनने से ही काम नहीं चलता, अनेक बार आवृत्ति करनी आवश्यक है। इसे निदिध्यासन भी कह सकते हैं। भगवती के लाल वर्ण के शरीर में स्वर्ग और पृथ्वी निमग्न हैं। इसका यह तात्पर्य है कि भगवतीरूप ब्रह्म में स्वर्ग और पृथ्वी आदि सब सन्निहित हैं। इससे भगवती का विश्वमातृत्व सिद्ध होता है। 'गीर्वाणगणिकाः' अर्थात् अप्सराएँ हैं अलौकिक सिद्धियाँ। उपर्युक्त साधक इन सिद्धियों को भी अपने वश में कर लेता है, यह नहीं कि वह इनके वश में हो जाय कारण वह परमपद का इच्छुक है।

मुखं विन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो,
हकारार्द्धं ध्यायेद्धरमहिषि ते मन्मथकलाम्।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु,
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रविन्दुस्तनयुगाम् ॥१९॥

टीका—हे हरमहिषि! विन्दु से मुख, उसके नीचे स्तनद्वय और हकार के अर्द्ध से निम्न अंग इस प्रकार कल्पना कर जो तुम्हारी काम-कला का चिन्तन करता है, वह तुरन्त स्त्रियों को चंचल कर देता है। परन्तु यह उसके हेतु अति तुच्छ है कारण वह चन्द्र और सूर्य-रूप स्तन-युगल वाले त्रिलोकों को भी अपनी इच्छा पर ही विचलित कर सकता है।

व्याख्या—हर का अर्थ है हरनेवाला अर्थात् समस्त विश्व को अपने में लय कर लेनेवाला। उसकी महिषी अर्थात् शक्ति। श्रीक्रम

के अनुसार तीन विन्दु हैं। इस क्रम में विन्दु भी तीन, त्रिकोण-मण्डल भी तीन, भूपुर भी त्रिरेखक और मन्त्र भी तीन अक्षर-वाले हैं। रूप भी तीन, कुण्डली भी त्रिविधा, मुख्य शक्तियाँ भी तीन—इसी प्रकार सब तीन-तीन हैं। इसी से यह त्रिपुरा कहलाती है। श्रीक्रम के कामकला-सिद्धान्त के अनुसार इसके त्रिविन्दुओं में प्रथम लय का, द्वितीय सृष्टि का और तृतीय स्थिति का द्योतक है। वाम-केश्वरतन्त्र में प्रथम (पर) विन्दु को कवलीकृत निःशेषतत्वग्राम-स्वरूप कहा है। यही महाविन्दु है, जिसके दो भाग अन्य दो विन्दु हैं। इनको अहं और मनोविन्दु भी कहते हैं। ये दोनों विन्दु रक्त और शुक्ल वर्ण के हैं। रक्त शक्ति का और शुक्ल शिव का सूचक है। पर-महाविन्दु अवर्ण है। इसी से सृष्टि और स्थिति होती है और इसी में लय होता है। अवर्ण निर्गुण-द्योतक है। इस विन्दु को पर-प्रणव भी कहते हैं। यहीं पर शक्ति प्रपञ्च के हेतु अपने को तीन भागों में बाँट कर विन्दु, नाद और वीज कहलाती है। अर्ध-हकार विसर्ग के दो विन्दुओं का शेष भाग है। यह विसर्ग के उच्चारण से ज्ञात होता है। ये जिस प्रकार समष्टि वा ब्रह्माण्ड में हैं, उसी प्रकार पिण्डाण्ड वा व्यष्टि वा जीव में भी हैं। भगवती की कामकला (मन्मथकला) का ध्यान करनेवाले का ब्रह्म से तादात्म्य हो जाता है। यही बात इस पद्य में दिखलाई गई है।

कीरन्तीमंगेभ्यः किरणनिकुरं वामृतरसं,
हृदि त्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव,
ज्वरप्लुष्टं दृष्ट्या सुखयति सुधासारशिरया ॥२०॥

टीका—अमृतधारारूपी किरणों को फैलाते हुए हिमालय पर्वत के सदृश तुम्हारे रूप का जो हृदय में ध्यान करता है, वह

सर्पों का अभिमान गरुड़वत् दूर करता है और अपनी शीतल सुधादृष्टि से ज्वरपीड़ित को सुख देता है।

व्याख्या—'हिमकरशिलामूर्त्ति' से हठयोग में अमृतनाड़ी से, मन्त्रयोग में मृतसंजीवनी मन्त्रसिद्धि से और ज्ञानयोग में 'मैं नित्य नवीन (युवा) और अमर हूँ' इस ज्ञान से तात्पर्य है। 'हिमकर' का अर्थ है शीतल करनेवाला पदार्थ। अतएव इससे तात्पर्य है तीनों तापों को शीतल करनेवाली भगवती से। 'शिलामूर्ति' है निश्चल-ध्यान। विकारों की कल्पना सर्पों के रूप में की गई है। गरुड़ जैसे सर्पों का नाश करता है, वैसे ही भगवती का विज्ञान विकारों को नष्ट करता है। उक्त साधन अविद्यारूपी ज्वरग्रस्त जीवों को दर्शन अर्थात् अपरोक्षज्ञान से, जिसकी अमृत-समान शीतलकारिणी चित्त-वृत्तियाँ हैं, सुखी करता है।

तड़िल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीं,
निषण्णां षण्णामप्युपरिकमलानां तव कलाम्।
महापद्माटव्यां मृदुतमममायेन मनसा,
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाह्लादलहरीम् ॥२१॥

टीका—विद्युत्-रेखा के सदृश सूक्ष्म रूप से छहों कमलों (चक्रों) के ऊपर बड़े कमलों (सहस्रदल) के वन में स्थित सूर्य, चन्द्र और अग्निमयी तुम्हारी कला को अनायास देखते हुए मायारहित महान् पुरुष सर्वोत्कृष्ट आनन्द-लहरी में अवगाहन करते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में भगवती के उत्कृष्ट सूक्ष्म रूप का उल्लेख है। महान् पुरुष से तात्पर्य है ऊँचे श्रेणी के उपासक उत्तमाधि-कारियों से, जो अन्तर्यजन में निपुण हैं। माया का अर्थ यहाँ अविद्या है। इस स्थान पर माया का प्रयोग भ्रमोत्पादक है। कारण माया अविद्या से सर्वथा भिन्न है। माया वा महामाया को स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने दुरत्यया कहा है (गीता ७। १४), किन्तु

अविद्या का ऐसा लक्षण कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। अविद्या दुरत्यया अर्थात् बड़ी कठिनता से पार की जानेवाली नहीं है। संक्षेप में अविद्या का कारण माया है। भगवती मायामयी लीलामयी ही कही जाती है, अविद्यामयी नहीं।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि की तीन कलाएँ त्रिगुण की द्योतक हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार ये ही भगवती के तीन प्रधान गुण वा कलाएँ हैं। इससे भगवती चिदचिदात्मक ब्रह्म है, यह बोध होता है। 'छहों-चक्रों से ऊपर' से सूक्ष्म भाव से तुरीयावस्था से और स्थूल भाव में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः इन छहों लोकों के परे सातवें सत्यलोक से मतलब है। यहीं उसकी वास्तविक स्थिति है। महापद्म से, जो सहस्रदलकमल (चक्र) ही है, ब्रह्माण्ड से तात्पर्य है। "सर्वं-खल्विदं ब्रह्म" वा "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" का ज्ञान यहीं होता है।

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा—
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं,
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटनीराजितपदाम् ॥ २२ ॥

टीका—हे भवानि ! तू मुझ दास पर कृपादृष्टि दान कर। तुम्हारे चरणों का नीराजन विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र के तेजोमय मुकुटों से होता है और जो तुझे भवानी कहकर पुकारता है, उसको तुम तत्काल अपने में मिला लेती हो।

व्याख्या—इस पद्य में कुण्डलीयोग के मुख्य अंग 'सोहम्' के माहात्म्य का वर्णन है। 'भवानी' का वाच्यार्थ भव अर्थात् महादेव की शक्ति है। अतएव भवानी से तात्पर्य पर-शक्तिमान् की पराशक्ति से है। यह तो हुआ भवानी संज्ञारूप का अर्थ। 'भवानि त्वम्' का दूसरा अर्थ है 'मैं तुम होऊँ', जिसका व्यञ्जक 'सोहम्' मन्त्र है।

'कथयति' का भाव है मनन करता है। 'स्तोतुं वाञ्छन्' से भक्ति-योग से तात्पर्य है। वहिर्योग वा कर्मयोग और अन्तर्योग वा ज्ञानयोग पूर्वपद्यों में वर्णित हैं। दास्यभाव भक्तियोग का ही एक अङ्ग है। भक्तियोग सबसे श्रेष्ठ और सुकर है। भक्ति से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'नीराजन' से यह तात्पर्य है कि प्रकाशशक्ति का नीराजन कपूर की तेजशिखा से क्या—सर्वश्रेष्ठ विष्णु आदि देवताओं के मुकुट की ज्वलन्त मणियों की तेजशिखाओं से भी नहीं हो सकता है कारण सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् भी उसको प्रकाश नहीं दिखा सकते हैं। वह तो स्वयं परंज्योति अर्थात् ज्योतियों की ज्योति है, जिससे सारा विश्व जगमगा रहा है। तब ? यह नीराजन अपने अविद्याबद्ध जीव का ही है। विद्यारूपी प्रकाश अपने को दिखाकर अपनी अविद्यारूप अन्धकार का नाश किया जाता है। यह अखण्डाकार ज्ञान ही है, जो 'साहम्' के मनन से जगदम्बा की कृपा के फलरूप प्राप्त होता है। इसी अखण्डाकार ज्ञान के निमित्त विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र भी उक्त प्रकार का मनन वा भगवती के चरणों में आत्मसमर्पण करते हैं।

त्वया हृत्वा वामं वपुरपरितृप्तेन मनसा,
शरीरार्द्धं शम्भोरपरमपि शंके हृतमभूत्।
तथा हि त्वद्रूपं सकलमरुणाभं त्रिनयनं,
कुचाभ्यामानम्रं कुटिलशशिचूडालमुकुटम् ॥२३॥

टीका—ऐसी शंका होती है कि शम्भु के आधे शरीर का हरण करने से सन्तुष्ट न होकर तुमने बचे हुए आधे हिस्से को भी ले लिया है, जिससे तुम्हारा शरीर लाल है, आँखें तीन हैं, कुचयुगल से झुकी हो और टेढ़ा चन्द्र तुम्हारा मुकुट है।

व्याख्या—इस पद्य में भगवती के अर्द्धनारीश्वर अर्थात् आधे शक्त्यात्मक और आधे शिवात्मक शरीर का वर्णन कर शिवात्मक आधे भाग के भी शक्त्यात्मक रूप में लय हो जाने का वर्णन है। चित

पराशक्ति के पर-रूप का यह वर्णन शाक्त-दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार है। जैसा प्रथम पद्य की व्याख्या में कहा गया है शिव प्रपञ्चार्थ ही सृष्ट हुआ है। शिव-शक्ति का सामरस्य ही आनन्दावस्था है और शक्ति में शिव का लय हो जाना ही महाप्रलय का द्योतक है, जब कि भगवती अकेली रह जाती है। इससे यह न समझे कि शिव का सम्पूर्णतः लय हो जाता है। वास्तव में उसका लय नहीं होता। लय से तात्पर्य है शववत् निष्क्रिय हो जाना। यह सृष्टि-क्रम है। संहारक्रम में शिवरूपी काल अर्थात् कालशक्ति का वह अपने में कर्षण कर निर्गुणा, अव्यवहार्या, अलक्षणा आदिरूपा हो जाती है। यह रूप केवल आद्या का है। यहाँ शिव के लय से आनन्द-सामरस्य का बोध होता है। इसमें भी शक्ति की प्रधानता "कुचाभ्यामानम्रम्" से प्रकट है। 'त्रिनयनं' सर्वव्यापकता-बोधक है। अपहरण से यह ज्ञात होता है कि काल के लय हो जाने पर काल की सर्वव्यापकता का आधार-स्थान भगवती में अवस्थित रह जाता है। शिव-द्योतक शुक्लवर्ण के शक्तिद्योतक रक्तवर्ण में मिलने से शिव-तत्व के शक्तितत्व में लीन हो जाने से तात्पर्य है। 'बालचन्द्र-शेखरा' से यह तात्पर्य है कि सगुणावस्था में काल अमृत-धारा बहाने-वाली शक्ति को धारण करता था। अब निर्गुणावस्था में काल के उसमें मिल जाने पर भगवती धर्मी-शक्ति ने ही इस धर्मशक्ति को धारण कर लिया है। यहाँ सम्भव था कि किसी को यह शंका हो जाती कि शक्ति ही शिव में लीन हो गई है। इसी हेतु स्तुतिकार ने "कुचाभ्यामानम्रम्" से प्रमाणित किया है कि यह रूप शिव अर्थात् पुरुष का नहीं है।

इससे शब्द और काल अर्थात् दिन और रात के अतीत हो परिपूर्ण ज्ञान से उन्मनी अवस्था प्राप्त कर ब्रह्म में लीन होने के ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। यह उन्मनी-शक्ति समनाशक्ति से परे है। यह काल की कलाभानावस्था से परे है और निराकारा एवं

अनामा चित्शक्ति की द्योतक है। यथार्थतः ब्रह्म देश और काल से रहित ही है।

जगत् सूते धाता हरिरवति रुद्रः क्षपयते,
तिरस्कुर्वन्नेतान् स्वमपि वपुरीशः स्थगयति।
सदा पूर्वः सर्वं तदिदमनुगृह्णाति च शिव—
स्तवाज्ञामालम्ब्य क्षणचलितयोर्भ्रूलतिकयोः॥ २४॥

टीका—तुम्हारे क्षणकालिक कटाक्षरूपी आज्ञावश ब्रह्मा विश्व की सृष्टि, विष्णु इसका पालन और रुद्र इसका संहार करते हैं। ईश (ईश्वर) इन (क्रियाओं को) को तुच्छ समझकर निश्चल है और सदाशिव सबको अपने में लय कर लेता है।

व्याख्या—इस पद्य के कई तात्पर्य हैं। यथा कुण्डलीयोग में षट्चक्रभेदन से, ज्ञानयोग में ज्ञान-भूमिकाओं से और भक्तियोग में अन्य सर्वरूपों का त्याग कर केवल इसी परमरूप से सम्बन्धस्थापन से तात्पर्य है। किन्तु मुख्य भाव कुण्डलीयोग के षट्चक्रभेदन का ही है, कारण इस स्तुति में भगवती के कुण्डली-रूप का वर्णन मात्र नहीं किन्तु आरोहण और अवरोहण का भी प्रतिपादन है। संक्षेप में इतना ही कहना है कि पञ्चशिव आकाशादि पञ्चतत्वों के अधिदेवता हैं। सदाशिव इन चारों को लय करता है। इससे यह प्रतिपादित होता है कि पृथ्वीतत्व जलतत्व में, जलतत्व अग्नितत्व में और अग्नितत्व वायुतत्व में लीन होकर चारों आकाशतत्व में, जिसका व्यञ्जक सदाशिव है, लीन हो जाते हैं। ऐसा प्रतापी सदाशिव अर्थात् महाकाल भी भगवती की इच्छानुसार ही कार्य कर सकता है। इससे सदाशिव के परे पराशक्ति का होना सिद्ध है। यह तो समष्टि-सम्बन्धी विवेचना है। व्यष्टि में भी पञ्चतत्व-प्रधान एक-एक कमल (चक्र) है, जो पाँच रंगों के पाँच भूतों के द्योतक पाँच अधिदेवता आदि चित्राख्या आदि नाड़ियों में अन्तरस्थ हैं। शरीर की ब्रह्मनाड़ी पाँच सूत के सदृश्य सूक्ष्म है। पाँच सूत का तात्पर्य

है पाञ्चभौतिक। कुण्डली-योग में प्राणशक्ति (कुण्डली) को एक-एक चक्र के ऊपर उठा विशुद्धिचक्र में ले जाने से सदाशिव में चारों तत्त्वों का लय हो जाता है। उसके ऊपर आज्ञाचक्र में मनस्तत्व में इन पाँचों तत्वों को लय कर सहस्रार में मन का लय किया जाता है। इस प्रकार मन के निग्रह से अखण्डाकार वृत्ति में स्थिति हो जाती है। इसी अवस्था को समाधि कहते हैं। इसका भी लय परमावस्था में होता है, तभी ब्रह्मैक्य होता है। इस अवस्था को अनाख्यावस्था कहते हैं अर्थात् यह अवस्था कही नहीं जा सकती है। इसमें न प्रकाश है और न अन्धकार है। इसी का एक नाम साम्यावस्था है। इसी का तात्पर्य परापरा अर्थात् मिश्रज्ञान-यज्ञ वा पूजा में, जिसके अधिकारी को मध्यमाधिकारी वा वीर कहते हैं, इस प्रकार दीखता है—

१—पृथ्वीतत्व के लय से तात्पर्य है अपने शरीर के पार्थिव भाग की जड़ता का लय। यही गन्ध-समर्पण है। २—जलतत्व के लय से तात्पर्य है अपने शरीर के जलमय अमृत-भाग (रसभाग) की जड़ता का लय। यही नैवेद्य-समर्पण है। ३—अग्नि वा तेज के लय से तात्पर्य है अपने शरीर के तेजभाग की जड़ता का लय। यही दीप-समर्पण है। ४—वायुतत्व के लय से तात्पर्य है अपने शरीर के वायव्य भाग की जड़ता का लय। यही धूप-समर्पण है। ५—आकाशतत्व के लय से तात्पर्य है अपने शरीर के भूताकाश-अंशों की जड़ता का लय। यही पुष्प-समर्पण है। इन्हीं जड़ भावों के लय होने पर अवशेष में चिन्मात्रता रह जाती है। यही वास्तविक पूजा, योग, ज्ञान आदि का तात्पर्य है। अगर ऐसा भाव न हुआ तो पूजा करना व्यर्थ है।

इस पद्य में गुणोपसंहार-क्रम का दिग्दर्शन कराया गया है, जो समष्टि में पराशक्ति की लयेच्छा से होता है और व्यष्टि में जिसे परमात्मा-रूपिणी भगवती की कृपा से ही प्रत्यगात्मा कर सकता है।

त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानामपि शिवे,
भवेत् पूजा तव चरणयोर्या विरचिता।
तथा हि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे,
स्थिता ह्येते शश्वन्मुकुलितकरोत्तंसमुकुटाः ॥ २५ ॥

टीका—हे शिवे ! तुम्हारे चरण-युगल की पूजा ही सत्व, रज और तमोगुणों से सृष्ट तीनों देवों की पूजा है। (कारण) ये उच्च मुकुटवाले (देव) हाथ जोड़े तुम्हारे पाँव रखने की मणियों की बनी चौकी के समीप खड़े हैं।

व्याख्या—शिवा अर्थात् भगवती प्रपञ्चेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी जगत् की जननी है अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रपञ्च की माता है। वही ब्रह्मयोनि है, जिससे सत् और असत् दोनों हुए हैं, स्थित हैं अर्थात् उसी की इच्छा से अपने-अपने निर्दिष्ट कार्य कर रहे हैं और अन्त में प्रलय-वस्था में लय हो जायेंगे। यह मातृभाव सापेक्ष और निरपेक्ष-भेद से विश्वमातृभाव और व्यष्टिमातृभाव दोनों का एकीकरण व्यक्त करता है। इस ब्रह्मरूपिणी भगवती की पूजा अर्थात् मनन और निदिध्यासन से उस मूल कारणरूपा के कार्यरूपी त्रिगुणात्मक त्रिदेवों की पूजा आप-से-आप हो जाती है। इससे कारण से कार्य की अभिन्नता सिद्ध होती है, जिससे ब्रह्म का चिदचिदात्मक होना सिद्ध होता है। और इसी से आत्मा की परमात्मा से अभिन्नता सिद्ध होती है।

विरिञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं,
विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम्।
वितन्द्रा माहेन्द्री विततिरपि सम्मीलति दृशां,
महासंहारे अस्मिन् विहरति सति त्वत्पतिरसौ ॥२६॥

टीका—हे सती ! तुम्हारे पति मात्र महाप्रलय के समय में रहते हैं, जिनके साथ तुम विहार करती हो। और सभी ब्रह्मा, विष्णु, यम,

कुबेर आदि मर जाते हैं। निरालस्य आँखोंवाले इन्द्र भी अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं अर्थात् मर जाते हैं।

व्याख्या—महाप्रलयकाल में नित्या सत्ता ही केवल रह जाती है। यहाँ सती का सूक्ष्म अर्थ पतिव्रता न होकर नित्या सत्पदार्थ है। यह अपने पति अर्थात् शिव के साथ विहार करती हुई रहती है। यह शिव उस धर्मीशक्ति की धर्मशक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कारण आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म अद्वितीय है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है, जो अकाट्य है। स्त्री और पति दोनों को नित्य मानने से "एकमेवाद्वितीयम्' सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। इसी को समपरिणामिनी सत्ता कहते हैं। पति का भी अर्थ यहाँ स्वामी न होकर सञ्चालन यह कालशक्ति का द्योतक है। यह कालशक्ति वा क्रियाशक्ति धर्मी परा-शक्ति से अभिन्न हैं। वैसे तो सभी अपरा शक्तियाँ इससे अभिन्न है। किन्तु कालशक्ति तो सर्वथा अभिन्न है। यहाँ ब्रह्मा और विष्णु आदि का लय दिखलाया गया है किन्तु संहारशक्ति का उल्लेख नहीं है। इसका यह कारण है कि संहार वा लयशक्ति का संहारक्रम में लय नहीं है। कारण इस लयशक्ति का लय होने से लय-क्रिया नहीं हो सकती है।

यह पद्य पूर्व के २३ वें पद्य के भाव का समर्थन करता है।

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरणीं,
विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमखाद्या दिविषदः।
करालं यत् क्ष्वेडं कवलितवतः कालकलना,
न शम्भोस्तन्मूलं जननि तव ताटंकमहिमा ॥ २७ ॥

टीका—हे माता! इस संसार में ब्रह्मा और सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्र आदि स्वर्ग के रहनेवाले देवगण बुढ़ापे और मरण को हरनेवाली सुधा (अमृत) को पीकर भी मर जाते हैं। परन्तु शिव कालकूट विष पीकर भी नहीं मरे, इसका कारण तुम्हारे कर्णभूषणों की महिमा है।

व्याख्या—जैसा पूर्व-पद्य में उल्लेख है, समस्त विश्व अर्थात् तीनों लोकों, चौदहों भुवनों का लय हो जाता है। मनुष्यों की क्या कथा, अमृत पीकर अजर और अमर हुए देवगण भी मर जाते हैं अर्थात् उनके नाम और रूप का नाश हो जाता है। नाम और रूप से ही ब्रह्मा, इन्द्र, यम, कुबेर, आदि ब्रह्म के अपूर्ण अंश व्यक्त हैं। इनका पूर्ण में मिल जाना ही नाम और रूप का लय सिद्ध करता है। यहाँ मरने से तात्पर्य लय होने से है न कि जैसा हम अज्ञानी स्थूल को छोड़ सूक्ष्म शरीर में जाना समझते हैं। इसका उदाहरण समुद्र की तरंगों का समुद्र में मिल जाने से है। यही मरण महा-प्रलय के अतिरिक्त सामान्य अवस्थाओं में एक शरीर को छोड़ दूसरे सूक्ष्म शरीर में अथवा पुनर्जन्म लेकर दूसरे स्थूल शरीर में रहने का द्योतक है। इसी हेतु शास्त्रों में कहा गया है कि इन्द्र भी जड़ और चैतन्य योनियों में एक-एक बार जन्म लेकर कर्मफल का उपभोग करता है।

पर-शिव के द्वारा कालकूट विष के पान का दार्शनिक तात्पर्य यह है कि संसार की सृष्टि होने पर उग्र संहारशक्ति को महाकालरूपी शिव ने ग्रहण कर लिया। केवल शिव अर्थात् महाकाल ही अमर हैं, इसका कारण यह है कि जिस प्रकार शक्ति के अतिरिक्त शिव की स्थिति नहीं है, उसी प्रकार शक्ति की स्थिति शिव के बिना नहीं है। इसी का द्योतक भगवती का ताटंक आभूषण है। यह लौकिक व्यवहार का दृष्टान्त कवि ने दिखलाया है कि सधवा ही आभरण पहनती हैं। सधवा वही है, जिसका स्वामी जीता है। अतएव यह आभरण की ही महिमा है कि भगवती के स्वामी शिव अमर हो गये। अन्यथा गहने किस तरह पहिनतीं ?

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं,
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमदनाद्याहुतविधिः।
प्रणामः सम्वेशः सुखमखिलमात्मार्पणदशा,
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ॥ २८ ॥

टीका—हे माता! मेरे सभी वाक्य जप हों; मेरे हाथों की सभी क्रियायें मुद्रायें हों; मेरे चरणों की सारी गतियाँ प्रदक्षिणा हों; मेरे भोजनादि हवन की आहुतियाँ हों; मेरी नमस्कार-क्रियायें तुममें तादात्म्य-स्वरूप (ऐक्यसूचक) हों; मेरे सभी सुख अखिल आत्मा में समर्पित हों और जो कुछ भी मैं करूँ, सब तुम्हारी पूजा में ही परिगणित हो।

व्याख्या—पूर्व-पद्यों में अन्य प्रकार की पूजाओं का दिग्दर्शन संक्षेप में कराया गया है। विशेषतः कुण्डली-योग का वर्णन हो चुका है, जिसके अभ्यास से साधक ज्ञानी हो जाता है। ज्ञानी को कैसी पूजा करनी होती है, यही इस पद्य में दिखाया गया है। इसमें जप आदि मुख्य पूजांग-क्रियाओं के ही तात्पर्य वर्णित हुए हैं।

(१) जप—सब इन्द्रियों का निग्रह कर अर्थात् अखण्डाकार वृत्ति में चित्त को लाकर नादस्थान वा मूलाधार में मन्त्र का मनन करना ही जप है। इस अवस्था में जिह्वा-द्वारा जो कुछ भी बोला जाय, वह अन्तर्मनन में बाधा नहीं पहुँचाता और जप नादस्थान में होता ही रहता है। यह केवल अनुभव-गम्य है, प्रमाण-द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है।

(२) मुद्रा—'मुदं राति ददाति इति मुद्रा' अर्थात् जो आनन्द देवे, वही मुद्रा है। 'शिल्प' अर्थात् हाथों की क्रियायें मुद्रारूपी हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी हाथ से जो भी कार्य करता है, वह ऐसा होता है कि उससे परमात्मा से अभिन्न उसकी आत्मा को आनन्द मिलता है अर्थात् विश्व-कल्याण के निमित्त ही हाथों के व्यापार होते हैं।

(३) गति—पैरों से बाह्यरूप में इष्टदेवता के चारों तरफ घूमना (प्रदक्षिणा) बताया गया है, किन्तु सूक्ष्मरूप में यह चित्त-वृत्ति की जड़ता अर्थात् ब्रह्म के नाम और रूप के अविद्या-पाद का लय अर्थात् इस भाव को हटाकर ब्रह्म में लीन होना ही है। इस अवस्था में ज्ञानी की अखंडाकार वृत्ति चलते-फिरते भी बनी रहती है।

(४) भोजन और पान—ये दोनों आहुति-स्वरूप तभी होते हैं, जब जीव को यह ज्ञान होता है कि मैं कर्त्ता (करनेवाला), भोक्ता (भोजन करनेवाला) इत्यादि नहीं हूँ। ज्ञानी जो कुछ भी खाता-पीता है, वह—"कुलकुण्डलिनीमुखे जुहोमि"—कुलकुण्डली के मुख में ही जाता है, ऐसा समझता है। कारण ज्ञान से उसका 'ममत्व' अर्थात् शरीर मेरा है, यह अज्ञान नष्ट हो चुका है।

(५) प्रणाम—यह स्थूलरूप से पशुभाव में अभिवादन मात्र है, परन्तु सूक्ष्मरूप से वीर और दिव्य भाव में जीव-ब्रह्मैक्यता के भाव का द्योतक है।

(६) सुखम्—यह आत्मा-परमात्मा के मेलन की अवस्था में सम-रसीकरण का द्योतक है। इसी भाव से परापूजा सम्पादित होती है। इसका यह तात्पर्य है कि श्रवणेन्द्रिय आदि विषय-शब्दादि के अनुभवों-द्वारा जो आनन्द होता है, वह अपने से अभिन्न इष्टदेवता के आनन्दित होने का प्रमाण है।

(७) पर्य्यायें—कायिक, वाचिक और मानसिक सब क्रियायें इष्टदेवता की पूजास्वरूप हैं। यह अद्वैतावस्था की क्रियाओं का द्योतक है। क्रिया-सम्बन्धी इसी भाव से ब्राह्मण क्या अन्त्यज भी परमपद को प्राप्त करता है।

ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमात्मानुसदृशी—
ममन्दं सौन्दर्य्यस्तवकमकरन्दं विकिरति।
तवास्मिन् मन्दारस्तवकसुभगे यातु चरणे,
निमज्जनमज्जीवः करणचरणैः षट्चरणताम्॥ २६॥

टीका—हे माता! मैं अपनी छहों इन्द्रियरूपी छः चरणों से अपने जीव (भाव) का लय कर षट्पद अर्थात् भ्रमर हो जाऊँ और तुम्हारे सौन्दर्य्यरूपी मधुयुक्त मन्दार फूलों के गुच्छे को ढूँढ़ूँ। ये तुम्हारे चरण-युगल दीनों को तुम्हारे सदृश सम्पत्ति के देनेवाले हैं।

व्याख्या—स्तुतिकार की प्रार्थना है कि वह जीव (द्विपद) भाव का निमज्जन अर्थात् उसमें लय कर षट्पद भ्रमर हो जाय। भ्रमर जैसे मधु की खोज में अनवरत फूलों पर मँडराता रहता है, उसी प्रकार कवि की अभिलाषा मधुरूपी विद्या की खोज में मँडराने की है। यह मधुविद्या ब्रह्मविद्या का ही दूसरा भाग है। ब्रह्मविद्या के दो भाग हैं—निराकार वा निर्गुण और साकार वा सगुण। सगुण ब्रह्मविद्या निर्गुण ब्रह्मविद्या से अधिक सरस और आनन्ददायक होने से ही मधुविद्या कहलाती है। यह मधु सहस्रार के ब्रह्मरन्ध्र में रहनेवाली भगवती के मन्दार अर्थात् अलौकिक पुष्पों के गुच्छेस्वरूप चरणों में है। अतः इसे भौंरे के सदृश छः पैरवाला बनना आवश्यक है अर्थात् छहों चक्रों का कुण्डली-द्वारा भेदन करके ही सहस्रार में जाना होगा। तब कहीं मधु मिलेगा। इन्हीं छहों चक्रों का भेदन करना आलंकारिकरूप में षट्पदी होना कहा गया है। अतः यहाँ यही भाव है कि छः क्रियायें करनेवाला होऊँ। छः क्रियायें एक-एक चक्र-भेदन की क्रिया हैं। छः इन्द्रियों से तात्पर्य है पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन से। 'दीन' से निरहंकार से और 'आत्मानुसदृशीं श्रियम्' से सायुज्य मुक्ति से तात्पर्य है।

कुण्डली-योग-द्वारा षट्चक्र का भेदन करने से सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा इस पद्य से बोध होता है। उसी के हेतु स्तुतिकार ने प्रार्थना की है।

किरीटं वैरिञ्च्यं परिहरपुरः कैटभभिदः,
कठोरे कोटीरे स्खलसि जहि जम्भारिमुकुटम्।
प्रणम्रेष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भुवनम्,
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोक्तिर्विजयते ॥ ३० ॥

टीका—जब कि ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र दंडवत् पृथ्वी पर साष्टांग प्रणाम कर रहे हैं, भव अर्थात् शिव के तुम्हारे निकट हठात् आने पर उनके स्वागतार्थ तुम्हारे खड़े होने के समय सखियाँ

तुम्हें सचेत करने को इन तीनों की विजय का बखान करती हुई कहती हैं कि ब्रह्मा और जम्भ राक्षस के मारनेवाले इन्द्र के मुकुटों से बचना और देखो कहीं कैटभ के मारनेवाले विष्णु के कठोर मुकुट पर न गिर पड़ो।

व्याख्या—इस पद्य में कुण्डली-योग की ब्रह्म, विष्णु और रुद्रात्मक-ग्रन्थित्रय के भेदन की क्रिया का आलंकारिक रूप में वर्णन है। यहाँ 'जम्भारि' से रुद्र अर्थात् तमोगुणात्मक शक्ति से तात्पर्य है। रुद्र ही अन्तिम तृतीय ग्रन्थि है, जिसके भेदन से प्राणशक्तिरूपिणी कुण्डली सहस्रार में पर-शिवरूपिणी परा-शक्ति से जा मिलती है। उक्त ग्रन्थित्रय के भेदन से जीव गुणत्रय के परे हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के मुर्दों के सदृश पड़े होने का यही तात्पर्य है कि तीनों ग्रन्थियाँ भेदित हो जाने से निष्क्रिय हो गई हैं। जीव त्रिगुणात्मक आवरण हट जाने से शिव हो जाता है। वह पराशक्ति से एक होने को सहस्रार जाता है। इसी भाव को 'प्रसभमुपजातस्य भवनम्' व्यक्त करता है। 'परिजनोक्ति' अर्थात् सखीगण की कथा के बहाने स्तुतिकार साधकों को सूचना देता है कि कुण्डली-उत्थान बड़ी सावधानी से करना होता है अन्यथा विपरीत फल अर्थात् ब्रह्म, विष्णु और रुद्र तीनों ग्रन्थियों के टूट जाने का भय है। इससे साधन में महाविघ्न पड़ता है। यहाँ तक कि प्राण-वियोग हो जाता है। कुण्डलीयोग ऐसा ही कठिन साधन है।

चतुःषष्ठ्या तन्त्रैः सकलमभिसन्धाय भुवनं,
स्थितस्तत्तत् सिद्धिप्रसवपरतन्त्रः पशुपतिः।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना—
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्॥ ३१॥

टीका—पशुपति वा शिव चौंसठ तन्त्रों का अनुसन्धान अर्थात् मनन कर प्रत्येक तन्त्र से प्रतिपादित तत्तत् सिद्धियाँ प्राप्त कर स्वाधीन

हो गये, परन्तु तुम्हारी आज्ञावश वह पृथ्वी पर पुनः पुरुषार्थ-चतुष्टय के एकमात्र प्रतिपादक 'स्वतन्त्र' तन्त्र को ले आये।

व्याख्या—इससे कवि ने तन्त्रों की नित्यता सिद्ध की है। समय-समय पर तत्तत् समय के उपयुक्त साधनरूप में तन्त्रों और पुराणों का प्रचार सिद्ध-पुरुषों द्वारा विश्व में होता ही रहता है और होता ही रहेगा। यही आस्तिकों का सिद्धान्त है। यहाँ 'पशुपति' का अर्थ है पशु अर्थात् अज्ञानियों का स्वामी अर्थात् ज्ञान देनेवाला, कारण शिव ही जगद्गुरु है। यह जगद्गुरु समयोपयुक्त धर्म की स्थापना के लिए समय-समय पर मनुष्यरूप में भू-मण्डल पर आकर लोगों को उपयुक्त साधना का उपदेश देते हैं। इन्हीं उपदेशों के नियमबद्ध रूपों को तन्त्र कहते हैं। इसी से जीव की रक्षा होती है। तन्त्र—तन्यते विस्तारयते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्—का अर्थ है कि जो ज्ञान को बढ़ाकर रक्षा करे। 'त्र' का अर्थ है रक्षा करना। प्रत्येक क्रान्ता (देश-विभाग) अर्थात् रथक्रान्ता, अश्वक्रान्ता और विष्णुक्रान्ता के चौंसठ पृथक्-पृथक् तन्त्र हैं। इन्हीं तीनों क्रान्ताओं में भारतवर्ष बँटा है। इन तीनों से ही गौड़, काश्मीर और केरल तीन क्रम हैं। अस्तु, जब उक्त चौंसठ तन्त्र समयोपयोगी न रहे तो उस परमाशक्ति की यह इच्छा हुई कि परिवर्तित समयोपयोगी ऐसे तन्त्र का प्रकाशन हो, जो सब तन्त्रों के सार और पुरुषार्थ-चतुष्टय को एक ही साथ देनेवाले विधान का प्रतिपादक हो। पहले चौंसठों तन्त्रों में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का अलग-अलग प्रतिपादन था, जिससे वे अब उपयोगी न रह गये। अतः उसकी इच्छा के अनुसार जगद्गुरु ने 'स्वतन्त्र' तन्त्र की रचना की और पृथ्वी पर इसके अनुसार साधन करने का आदेश मनीषियों को दिया। यह 'स्वतन्त्र' तन्त्र कौन सा है, इसमें आचार्य्यों में मतभेद है। भास्करराय के मत से वामकेश्वर तन्त्र ही 'स्वतन्त्र' तन्त्र है। दूसरे ज्ञानार्णव को स्वतन्त्र तन्त्र कहते हैं। तीसरे तन्त्रराज को ही 'स्वतन्त्र' तन्त्र कहते हैं। इस अवस्था में 'विश्वास भूयिष्ठं प्रामाण्यम्' के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है।

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथरविः शीतकरणः,
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परमारहरयः ।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता,
भजन्ते ते वर्णास्तव जनिन नामावयवताम् ॥ ३२ ॥

टीका—हे माता ! प्रत्येक कूट के अन्तःस्थित हृल्लेखा अर्थात् 'ह्रीं' के ये वर्ण तुम्हारे नाम और रूप हैं । ये हैं शिव, शक्ति और काम; तब रवि, शीतकिरण, स्मर, हंस और शक्र; तब परा, मार और हरि ।

व्याख्या—इस पद्य में हादिविद्या का उल्लेख हुआ है, जिसको साधारणतया श्रीविद्या कहते हैं । इस विद्या वा मन्त्र के तीन कूट हैं, जो नाम और रूप के द्योतक हैं । इन तीन कूटों को क्रमशः वाग्भव कूट, काम-कला और शक्तिकूट कहते हैं । शक्तिकूट को त्रैलोक्य-मोहिनी भी कहते हैं । मन्त्र ऐसे बनता है—शिव=ह, शक्ति=स, काम=क, क्षिति (पृथ्वी)=ल=ह—सकल—ह्रीं; रवि=ह, शीत-किरण=स, स्मर=क, हंस=ह, शक्र=ल=ह स क ह ल—ह्रीं; परा=स; मार=क, हरि=ल=सकल—ह्रीं ।

इसी पञ्चदशाक्षरी-विद्या को त्रिकूटा वा लोपामुद्रा-विद्या कहते हैं । इसका षोडशाक्षर गुरुमुख से ही जाना जा सकता है । तभी यह षोडशाक्षरी-विद्या कहलाती है, जिसके चार पाद हैं । प्रथम पाद अग्नि-सूर्य्य-चन्द्रमात्मक है । द्वितीय पाद इच्छा-ज्ञान-क्रिया-त्रिशक्त्यात्मक अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक है । तृतीय पाद जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-त्रिअवस्थात्मक अर्थात् विश्व-तैजस्-प्रज्ञात्मक है और चतुर्थ पाद केवल परशक्त्यात्मक वा चैतन्यात्मक है । सोलहवें वीज की योजना में भेद है, जो शिष्य की योग्यता और मनोवृत्ति की परीक्षा करके गुरु योजित करता है । इसी हेतु तन्त्र में यह व्यक्त नहीं किया गया है । इन मन्त्रों के छन्द, ऋषि, देवता इत्यादि केवल बाह्य पूजा में प्रयोगार्थ कथित हैं, जो अन्तर्यजन में आवश्यक नहीं हैं । कारण कि मानसिक पूजा में

केवल इष्ट का ध्यान मात्र रहता है। मन्त्र ही देवता का शब्दरूप है और इसी के अनुसार ललिता, कामेश्वरी, षोडशी इत्यादि संज्ञाओं की कल्पनायें हैं।

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमाद्ये तव मनो—
निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः।
जपन्ति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षरलयाः,
शिवाग्नौ जुह्वन्तः सुरभिघृतधाराहुतिशतैः ॥ ३३ ॥

टीका—हे नित्ये! हे अद्वितीये! मोक्ष और भोग अर्थात् ऐहिक तथा परम सुख के चाहनेवाले जो साधक स्मर, योनि और लक्ष्मी-वीजों को तुम्हारे मन्त्र में योजित करके जपते हैं और शिवाग्नि अर्थात् सम्विदग्नि वा कुण्डली-विमुक्त (मूलाधार-स्थित) स्वयम्भूलिंग में सुगन्धित घृत-धारा की सौ बार आहुति देते हैं, वे शब्दब्रह्म में लय होते हैं अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

व्याख्या—यह पद्य कादिविद्या का उद्धार करता है। 'स्मर', 'योनि' और 'लक्ष्मी' क्रमशः 'क', 'ए' और 'ई' के बोधक हैं। दूसरा सिद्धान्त है कि उक्त 'स्मर' आदि तीनों क्रमशः 'क्लीं', 'ह्रीं' और 'श्रीं' वीजत्रय के द्योतक हैं। परन्तु पूर्व-पक्ष ही ठीक है, कारण पूर्व-पद्य में हादिविद्या का उल्लेख हो चुका है। अब कादिविद्या का उल्लेख आवश्यक था क्योंकि यह शाम्भवी विद्या परा-शक्ति कादि, हादि और सादि-विद्यास्वरूपिणी है। 'शिवाग्नि' से तात्पर्य कुण्डली-योग में कुण्डली मुख से और ज्ञान-योग में सम्वित्रूपी अग्नि वा ज्ञान से है। ज्ञान-योग की सम्विदग्नि अखण्डाकार वृत्ति की द्योतक है। इसमें विश्व अर्थात् संकल्प-विकल्पात्मक खण्डाकार वृत्ति का हवन वा लय किया जाता है। कुण्डली-योग में हठ, मन्त्र और ज्ञान तीनों योग सन्निहित हैं अर्थात् कुण्डली-उत्थान, षट्चक्रभेदन और कुण्डली-परशिव-मेलन हठ, मन्त्र तथा भावना तीनों क्रियाओं द्वारा होते हैं। साधक चाहे तीनों करे,

दो ही करे वा एक ही करे। इनमें किञ्चित् फल-भेद है। यहाँ मन्त्र-योग की क्रिया का उल्लेख हुआ है। इसी हेतु शब्दब्रह्म में लयरूप परिणाम का उल्लेख किया गया है। ज्ञानयोग में परब्रह्म में लय होता है और हठयोग में असंप्रज्ञात वा निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होती है। 'घृत' से तात्पर्य है अमृत से, जो सहस्रार के सोम-मण्डल में कुण्डली वा प्राण-शक्ति के जाने पर प्राप्त होता है। लौकिक व्यवहार में भी 'आयुर्वै घृतम्' अर्थात् आयु वा जीवन वा प्राणशक्ति घी है, ऐसा कहा जाता है। इसी को लक्ष्य में रखकर तन्त्रराज (पन्द्रहवाँ पटल, ६८ श्लोक) विष्णुघृत बनाने की विधि बतलाता है, जिससे वाक्शक्ति अर्थात् शब्दब्रह्म के मनन में सहायता पहुँचती है। 'चिन्तामणि' का तात्पर्य है वाञ्छित कामना-पूर्त्ति करनेवाली शक्ति से।

शरीरं त्वं शम्भोः शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं,
तवात्मानं मन्ये भगवति भवात्मानमनघम्।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया,
स्थितः सम्बन्धो वां समरसपरानन्दपदयोः ॥ ३४ ॥

टीका—तुम सूर्य और चन्द्ररूपी स्तनद्वय से युक्त शम्भु की शरीर हो। हे भगवती! तुम निष्पाप अर्थात् निर्विकार हो; इस हेतु तुम्हारी निःशेषता वा सर्वांशता और शेषता वा असम्पूर्णता वा अंशता में परस्पर-सम्बन्ध का युक्तानन्द कैवल्यानन्दरूप से है।

व्याख्या—इस पद्य में भगवती पराशक्ति के समष्टि और व्यष्टिरूपों का सम्बन्ध तथा दोनों रूपों की उपासना का फल कहा गया है। 'शम्भु' का अर्थ है परम कल्याण वा मोक्ष का देनेवाला अर्थात् परब्रह्म। शम्भु के शरीर से तात्पर्य है कि परा-शक्ति भगवती का यह रूपक है। इस शरीर के केवल चन्द्र और सूर्यरूपी स्तनों से युक्त होने के उल्लेख से यह भाव है कि परब्रह्म यद्यपि पुंरूप में व्यक्त किया गया है तथापि वह

स्त्रीरूपी ही है। इसका दूसरा तात्पर्य यह भी बोध होता है कि भगवती तीन विन्दुओं से व्यक्त है। एक विन्दु, जो अनल (अग्नि) रूपी है, उसका मुख है और दो विन्दु उसके स्तनद्वय सूर्य-चन्द्रात्मक हैं (१६ वाँ पद्य देखिये)। इन तीनों से इच्छा, ज्ञान, क्रिया त्रिशक्ति और सत्वादि त्रिगुणों का बोध होता है। भगवती का अर्थ है ऐश्वर्यशालिनी परा-शक्ति। पद्य के दूसरे चरण से उसका विश्वरूपिणी होना ज्ञात होता है। यह अद्वैतवादी अर्थात् चिद् एवं अचिद् ब्रह्म में अभेद-प्रतिपादक सिद्धान्त है। यही आत्म वा ब्रह्मज्ञान का देनेवाला है। इसी ज्ञान से ब्राह्मणत्व होता है और इसी से साधक अपने को जगज्जननीस्वरूप अर्थात् देवीपुत्र समझता है। इससे ब्रह्म के प्रत्यक्ष ज्ञान से परोक्ष ज्ञान भी होता है। निर्विशेष अपरिच्छिन्न ही सविशेष परिच्छिन्न है, ऐसा बोध होता है, जिसका ज्ञान पदार्थ-शोधन से होता है। इन दोनों अशेष (पूर्ण) और शेष (अपूर्ण) का सम्बन्ध-लक्ष्य लक्षण-सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध नित्य है। इसके मनन के दो परिणाम हैं। एक समरस, जो सविकल्प का द्योतक है। इसमें 'अहम्' भाव का किञ्चित् आभास रहता है। दूसरा परानन्दरूपी परिणाम है। यह निर्विकल्प का द्योतक है। इसमें 'अहम्' भाव का सर्वथा अभाव रहता है। यही कैवल्य मुक्ति है। कोई समरसानन्द को पसन्द करते हैं तो कोई परानन्द को। अर्थात् कोई चीनी का रसास्वाद मात्र चाहते हैं तो कोई चीनी ही हो जाना चाहते हैं। इसमें कौन श्रेष्ठ है, यह अपनी-अपनी रुचि है।

मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि,
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा,
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बभृषे ॥ ३५ ॥

टीका—हे शिवयुवती! तुम मन, आकाश, वायु की सारथी अर्थात् अग्नि, जल और पृथ्वी हो। इस प्रकार तुम अपने को विश्वरूप

में परिणत करती हो। तुमसे पर अर्थात् अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अपनी लीला से तुम अपने विश्वरूप में चैतन्यता एवं आनन्द का विकाश करती हो।

व्याख्या—इस पद्य में अचित् विश्व को चिदंश और दुःखमय प्रपञ्च को आनन्दमय सिद्ध किया है। यह कुण्डली-योग के षट्चक्रों के (व्यष्टि में) रूप और तात्पर्य का वर्णन है। शिव की युवती से तात्पर्य है धर्मीशक्ति की नित्य नवीना धर्मशक्ति से। भगवती युवती है, इसका यह तात्पर्य है कि धर्मीशक्ति का अपचय वा ह्रास नहीं होता। वह बूढ़ी नहीं होती अर्थात् क्षीण बलवाली नहीं होती है। यह भगवती का काल से परे होना बतलाता है। कारण जिससे रूप का बढ़ना और घटना जाना जाता है, वही काल है। मन और पाँचों तत्वों के रूपों में भगवती प्रत्येक जीव के मूलाधारादि छहों चक्रों में क्रमशः डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी और हाकिनी शक्तियों के रूप में विराजमान हैं (नौवाँ पद्य)। ये ही इन छहों चक्रों की अधिष्ठातृ देवता हैं। यद्यपि कुण्डलीरूपी चित्शक्ति अपने को पञ्चतत्व और मनरूपी विश्वरूप में परिणत करती है तथापि वह अपनी चेतनता और आनन्दत्व को नहीं खोती, किन्तु जैसे समष्टि में वैसे ही व्यष्टि (शरीर) में इन दोनों का विकाश करती है। इससे कुण्डली-योग का साधन करने का कवि परामर्श देते हैं।

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया,
शिवात्मानं वन्दे नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुभयविधिमुद्दिश्यदयया,
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम् ॥ ३६ ॥

टीका—मैं तुम्हारी नृत्य-निपुणा समया शक्ति (सावित्री) के सङ्ग शिवरूप ब्रह्मा की मूलाधार में वन्दना करता हूँ। यह शिव नवरस के प्रकाशक महानृत्य में कुशल हैं। इन दोनों से माता-

पितामय यह संसार अपने विभव-सहित उन दोनों के संयुक्त उद्देश्य की संयुक्त सहायता से पूर्त होने के निमित्त तुम्हारी दया से सृष्ट हुआ है।

व्याख्या—इस पद्य से छहों चक्रों की अधिष्ठातृ देवताओं का उल्लेख आरम्भ होता है। मूलाधार में सावित्री-ब्रह्मा हैं। इसको कामाख्या वा कामरूप पीठ कहते हैं कारण कामाख्या भगवती इसी के त्रिकोण (योनि) में व्यष्टिरूपिणी कुण्डली के रूप में रहती है। इस रूप की पूजा सर्वप्रथम होती है। यही कौल-सिद्धान्त है। लक्ष्मीधर ने इस सिद्धान्त को न मान कर इसे तामस चक्रद्वय में का प्रथम चक्र बता कर यहाँ पूजन निषिद्ध ठहराया है। परन्तु यह सर्वथा अयुक्त है। कारण तत्व-विचार में ब्रह्म के तामस भागों की अवहेलना किसी प्रकार से नहीं जा सकती है। क्या यह तामस अंश ब्रह्म से भिन्न सत्तावाला है? तामस अंश आत्मतत्व वा अविद्या-तत्व है। इस आत्मतत्व के चिन्तन बिना रजोगुणात्मक विद्यातत्व का चिन्तन होना असम्भव है। इससे सत्वगुणात्मक शिवतत्व का चिन्तन नहीं हो सकता है। यहाँ विहंगमगति काम नहीं दे सकती। आधार के त्याग से आधारशक्ति सोई रह जाती है, जिससे विश्व का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है। आधारशक्ति के प्रबोधन से ही अर्थात् कुण्डली-जागरण से ही त्रैलोक्य अर्थात् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय का प्रतिबोधन होता है। इसी से मुक्ति होती है। इस आधारचक्र का ध्यान करने का श्रौत आदेश है—'तत्र तिष्ठति विश्वेशो ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्'। अतएव पूज्यपाद लक्ष्मीधर का यह सिद्धान्त अश्रौत और अयुक्त होने से अग्राह्य है। फिर केवल मूलाधार में ही पूजन पूर्ण नहीं हो जाता। साधक का उद्देश्य वहीं मूलाधार में ही रह जाने का नहीं है कारण चित्त अगर यहीं तक रह जाय अर्थात् इसके ऊपर न जाय तो साधक की अधोगति होती है। उसका लक्ष्य तो ज्ञानलाभ करके ऊपर—बहुत ऊपर अर्थात् सहस्रार-स्थित ब्रह्मरन्ध्र तक जाने का है। 'समया' से कला

से तात्पर्य है जैसे समय से काल से है। 'ताण्डव' अर्थात् नृत्य से विलास से तात्पर्य है। इसी से विश्व शिव वा काल की विलास (नृत्य) भूमि है। यह विलास शृङ्गार, भयानक, रौद्र, वीभत्स, हास, वीर, करुणा, अद्भुत और शान्तिरसात्मक है। इन्हीं की अधिष्ठातृ शक्तियाँ कामाकर्षिणी आदि हैं।

तवा स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय नियतं,
तमीड़े सम्वर्त्त जननि महतीं च समयाम्।
यदा लोके लोकान् दहति क्रोधकलिले,
दयार्द्रामिद्दृग्भिः शिशिरमुपचारं रचयसि ॥ ३७ ॥

टीका—हे माता ! मैं उनकी (रुद्र की) वन्दना करता हूँ, जो स्वाधिष्ठान (चक्र) सम्वर्त्तरूपी अग्नि के रूप में सर्वदा रहते हैं। मैं महतीशक्ति समया की भी स्तुति करता हूँ। जब (रुद्र) अपने क्रोधयुक्त नेत्रों की अग्निज्वाला से संसार को दग्ध करते हैं तब तुम्हीं अपनी दयादृष्टि से इसको शीतल करती हो।

व्याख्या—पूर्वपद्य में मूलाधार में ब्रह्मा और ब्रह्माणी (सावित्री) की स्थिति कही गई है। इसमें रुद्र और रुद्राणी—अग्नि-शक्ति और शक्तिमान् की स्थिति कही गई है। इसमें तत्व-स्थिति के सिद्धान्त में मतभेद है। षट्चक्रनिरूपण में स्वाधिष्ठान में अग्नितत्व के बदले जलतत्व की स्थिति कही गई है, जिसके अधिष्ठातृ देवता विष्णु और नारायणी हैं। पूर्वोक्त सिद्धान्त अर्थात् स्तुतिकार का ही सिद्धान्त युक्त है कारण अग्नितत्व का लय जलतत्व में होना ही ठीक है।

'प्रजननीम्' भी पाठ है। परन्तु 'महतीम्' ही युक्त पाठ है कारण रुद्र की क्रिया दग्ध करना है और समया की पुनर्जीवित करना।

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थस्फुरणया,
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम् ।
तमः श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं,
निषेवे वर्षन्तं स्मरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥ ३८ ॥

टीका—मणिपुरवासी और कामरूपी सूर्य-द्वारा तप्त तीनों लोकों पर अमृत वर्षा करनेवाले, कृष्ण मेघ के सदृश काले, अकथनीय विष्णु की मैं उनकी शक्ति (नारायणी) सहित भक्ति करता हूँ, जो उनको अपनी अन्धकारनाशक ज्योति से उसी प्रकार विभूषित करती है, जिस प्रकार विद्युल्लता से मेघ शोभित होता है।

व्याख्या—इसमें विष्णु और नारायणी का उल्लेख हुआ है, जो स्वाधिष्ठान में जलतत्व की अधिष्ठातृ देवता है। विष्णु और नारायणी के बदले नारायण और लक्ष्मी कहना युक्त है। विष्णु सर्वव्यापक है— "व्यापनात् विष्णुः" और नारायण है जलरूप आयतनवाला "नारं जलं, तत्अयनं आश्रयो यस्य सः नारायणः"। जल ही अग्नि का आयतन है। इस पद्य से पराशक्ति की प्रकाशरूपकता सिद्ध है। 'विद्युत्-मेघवत्' की उपमा से शक्तिमान् से शक्ति की अभिन्नता सिद्ध होती है।

'हरमिहिर' भी पाठ है। परन्तु 'स्मरमिहिर' ही युक्त है कारण हर अर्थात् रुद्ररूपी सूर्य के स्थान में स्मर अर्थात् कामरूपी सूर्य से तप्त होने का भाव अधिक ठीक है।

समुन्मीलत् सम्वित् कमलमकरन्दैकरसिकं,
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणतिं,
समाधत्ते दोषाद् गुणमखिलमद्भ्यः पय इव ॥ ३९ ॥

टीका—अनाहत कमल में मैं महत्पुरुषों के मनों में फिरनेवाले और विकसित कमल के ज्ञानरूपी पराग के रस को चखनेवाले

हं—सः की जोड़ी का भजन करता हूँ। इस मनन से साधक अठारहों विद्याओं का ज्ञाता होता है और नीर-क्षीर-विवेक के सदृश दोष और गुण की पहचान की सामर्थ्य पा जाता है।

व्याख्या—इस पद्य में पूर्णगिरि पीठ अनाहत चक्र में ईश्वर और उसकी शक्ति का वर्णन किया गया है। ये वायुतत्व के अधिष्ठातृदेवता हैं। वायु से प्राणवायु से तात्पर्य है। उक्त चक्र में नादोत्पन्न हंस का अनुभव मध्यमावस्थावाले असंसिद्ध उपासकों को होता है। वैसे तो नाद की उत्पत्ति आधारचक्र में ही होती है पर यहाँ परा-अवस्था है। इस हेतु संसिद्ध साधकों के अतिरिक्त और किसी को इसका अनुभव यहाँ नहीं होता है। यह नाद जब मणिपूर में आता है तो इसका पश्यन्ती रूप होता है। इसका अनुभव द्वितीय श्रेणी के साधकों को होता है। जब यह अनाहत वा हृदय में आता है तो इसका अनुभव तृतीय श्रेणी को स्मरण ग्राह्यरूप में होता है। इसी प्रकार कण्ठ वा विशुद्धि में आने पर वैखरी रूप में दूसरों को भी अनुभव होता है। हंस शक्ति और शिव (प्रकृति-पुरुष) का द्योतक है। 'हं' शिववीज और 'सः' शक्तिवीज है। दोनों के मिलने से हंस होता है। यही विश्वद्योतक है। पद्य के प्रथम चरण से तात्पर्य है कि विकसित कमलरूपी यथार्थ ज्ञान के परागरूपी चेतनता-रस के चखनेवाले हैं। पक्षी हंस का स्वाभाविक गुण है नीर-क्षीर-विवेक अर्थात् दूध से जल को अलग कर देना। इसी प्रकार प्राणशक्ति हंस भी हंस पक्षी के सदृश यथार्थ ज्ञान से अयथार्थ ज्ञान को अलग कर अर्थात् 'मैं जीव नहीं वरन् शिव हूँ' यह समझ जाता है। भाव यह कि आत्म वा ब्रह्मज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान अठारहों विद्याओं में निष्णात होने से ही होता है, जो ये हैं—

(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) ज्योतिष, (६) छन्द, (७) ऋग्, (८) यजु, (९) साम, (१०) अथर्वण, (११) मीमांसा (१२) न्याय, (१३) धर्मशास्त्र, (१४)

-राण, (१५) आयुर्वेद, (१६) धनुर्वेद, (१७) गन्धर्ववेद और (१८) अर्थशास्त्र। यहाँ यह शंका हो सकती है कि तन्त्रशास्त्र की गणना क्यों नहीं की गई। इसका यह समाधान है कि तन्त्र वेद से पृथक् नहीं है। तन्त्रशास्त्र पाँचवाँ वेद है।

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमसदृशं,
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यसनिनीम्।
ययोः कान्त्या यान्त्या शशिकिरणसारूप्यसरणीं,
विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती ॥ ४० ॥

टीका—मैं आकाश-सदृश विशुद्धिचक्र में स्वच्छ स्फटिक पत्थर के समान विशुद्ध शिव और साथ ही उन्हीं के समान कार्यशालिनी देवी को नमस्कार करता हूँ। संसार उनकी कान्ति से अन्धकार वा अज्ञान के दूर हो जाने से चन्द्र की ज्योत्स्ना से आनन्दित चकोरी पक्षी के सदृश आनन्दित होता है।

व्याख्या—यह विशुद्धाख्य आकाशतत्वात्मक चक्र के अधिष्ठातृ देवता सदाशिव के अर्द्धनारीश्वर रूप का वर्णन है। यही जालन्धर पीठ है। यहाँ शिव से सदाशिव से तात्पर्य है। 'शिवसमानव्यसनिनी' से यह सिद्ध होता है कि शक्ति शिव से मिलकर ही क्रियाशीला होती है अन्यथा चितिशक्ति निराकार निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपिणी है। इस अर्द्धनारीश्वर रूप का तात्पर्य विश्वसार तन्त्र में यह दिया है कि इस विश्व में जो कुछ भी है, सब शक्ति-शिवात्मक है। अर्थात् पुंरूप और स्त्रीरूप दोनों के संयुक्त रूप ही हैं। पुरुष में स्तन आदि के चिह्न और स्त्री में पुंलिंगादि के चिह्न इसी के द्योतक हैं। वनस्पतियों में यह स्पष्ट रूप में देखने में आता है। चकोरी की उपमा यथार्थ है। कारण चकोरी चन्द्र की चन्द्रिका से ही आनन्दित होती है। यह पक्षी प्रकाश की पूर्ण भक्त है। यहाँ तक कि आग के अंगारे तक खा जाती है, ऐसा लोग कहते हैं। इसी प्रकार विश्व अर्द्धनारीश्वर की ज्योति से आनन्दित है क्योंकि

अन्धकाररूपी इसके अज्ञान का नाश उसी ज्योति से होता है। अर्द्धनारी-
श्वरावस्था ही सामरस्यावस्था है, जिसके परे परमावस्था की द्योतक परा-
शाम्भवी अवस्था है। इसी की द्योतक शाम्भवी मुद्रा है, जो आज्ञाचक्र
में तेज के आविर्भाव का प्रत्यक्ष दर्शन देनेवाली है।

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं,
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराद्धुं भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये,
निरालोके लोको निवसति हि भालोकभवने ॥ ४१ ॥

टीका—मैं तुम्हारे आज्ञाचक्रस्थित पराचित्शक्ति से युक्त और
कोटि चन्द्रमाओं और सूर्यों के सदृश ज्योतिवाले पर-शम्भु की वन्दना
करता हूँ। सूर्य, चन्द्र और अग्नि के प्रकाशों से बहुत परे प्रकाश-
स्थान के रहनेवाले लोग इनकी भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं। प्रकाश के
उस स्थान में प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या—यह आज्ञाचक्र का, जिसको परमकुलचक्र और मुक्त-
त्रिवेणी कहते हैं, वर्णन है। इस चक्र को मुक्त-त्रिवेणी इस हेतु कहते
हैं कि यहीं से इड़ा वा गंगा, पिंगला वा यमुना और सुषुम्ना वा सरस्वती
तीनों नाड़ियाँ पृथक् होती हैं। इस चक्र में कोई स्थूल तत्त्व नहीं है
किन्तु सूक्ष्म मनस्तत्व है। अतः कोई-कोई इसे ही मानसचक्र मानते
हैं। परन्तु मानसचक्र इसके ऊपर गुप्त रूप से है, जो छः दलों का
पद्म है। ये छः दल शब्द, स्पर्श, रूप, आघ्राण, रस और स्वप्न इन
छः वृत्तियों के द्योतक हैं। यहीं पर-शिव और पराचित् शक्ति के
ज्योतिरूप का वर्णन किया गया है। यह ज्योति सहस्रार-स्थित परज्योति
का प्रतिबिम्ब है। चन्द्र, सूर्य और अग्नि के प्रकाश इस चक्र के नीचे
के चक्रों में ही हैं। अतएव यहाँ उन तीनों की ज्योति की पहुँच नहीं
है। 'भालोक' अर्थात् सहस्रार ही निरालोक है। यही परमधाम है।

(शेष पृष्ठ १ के पीछे)

इस चक्र में चिन्तन तो होता है परन्तु देवता इसके परे सहस्रार में ही स्थित है। सहस्रार में पूजा नहीं होती है। वहाँ पहुँचते ही समाधि हो जाती है। इसी हेतु चिन्तन की सीमा यहीं तक निर्द्धारित है।

इसी पद्य तक आनन्दलहरी का वर्णन है। इसके बाद के पद्यों में 'आनन्दमयी' की सौन्दर्य-महिमा का वर्णन है, जिससे वे 'सौन्दर्यलहरी' नाम से कहे जाते हैं। कुछ लोग आनन्दलहरी के पद्यों को भी सौन्दर्य-लहरी के अन्तर्गत मानकर सम्पूर्ण स्तुति को सौन्दर्यलहरी मानते हैं। युक्त मत कौन सा है, यह पाठक की विवेचना पर निर्भर है।

इति पूज्यपादश्रीमच्छंकराचार्य्यविरचित आनन्दलहरी सम्पूर्णा

॥ ॐ शान्तिः। ॐ जगदम्बार्पणमस्तु ॥

मुद्रक—बाँकेलाल शर्म्मा, इलाहाबाद प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद

Only Cover printed at the Krishna Press, Allahabad.